तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग-४

विपश्यना विशोधन विन्यास

विषय-सूची

भूमिका [१]
संकेत-सूची [९]

इतिपि सो भगवा लोकविदू ४२१
लोकों के पार कैसे जायँ? ४२२
महाब्रह्मा ४३६
बक ब्रह्मा ४३९

इतिपि सो भगवा अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि ४४३
अनिर्वचनीय ४५४
मार विजय ४६९
यक्ष आळवक ४८२
अंगुलिमाल ४८४
नालागिरि ४९०
सच्चक ४९२
उपालि ४९८
भगवान धर्मवादी थे ५०३
प्रसेनजित ५०५
शल्यकर्त्ता ५०७
कभी-कभी हत्या भी करते थे ५०७

इतिपि सो भगवा सत्था ५१३
नास्तिकवादी शास्ता ५१५
तथागत आस्तिकवादी शास्ता थे ५१७
सुनी-सुनायी के शिक्षक ५१७

तार्किक शिक्षक	५१८
स्वानुभूति के शिक्षक	५१८
धोतक माणवक	५२७
वाहिय	५३३
शास्ता की आनुपूर्वी यानी क्रमिक शिक्षा	५३५
ब्रह्मायु ब्राह्मण	५३६
हिंदी शब्दानुक्रमणिका	[१]
पालि शब्दानुक्रमणिका	[६]
संदर्भ सूची	[१०]
नामों की अनुक्रमणिका	[१२]
विपश्यना साहित्य	[१]
विपश्यना साधना के केंद्र	[४]

सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विस्मृत हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

भूमिका

“तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध”, “तिपिटक में सद्धर्म” और “तिपिटक में आर्यसंघ” वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या साबित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा बैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना

विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनों ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं।

स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए, इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ

सूत्रों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सूत्रों को पढ़ते समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सूत्रों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था, अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर होता गया। इस अमृत-सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से, सांप्रदायिक बाड़ेबंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे, निष्कलुष थे; जो अनंत मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दुःख-विमोचनी विपश्यना विद्या को पुनः प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९ में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो प्रकाशन किया था, वह अब सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि-साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे। हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अब उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अतः अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक बृहद भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही। कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा

मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि–

"भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।"

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक बृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

विचित्तं मालं गन्थेय्य – सुदर्शिनी माला गूंथे।

एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो

– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति?

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महार्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण बने!

उनके अपरिमित हित-सुख का कारण बने!

उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण बने!

उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण बने!

यही कल्याण कामना है।

बुद्ध जयंती, १९९५

कल्याणमित्र,

सत्यनारायण गोयन्का

संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
पारा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये – पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

इतिपि सो भगवा लोकविदू

इतिपि सो भगवा लोकविदू

– वे भगवान ऐसे लोकविदू भी हैं।

लोकं विदति जानातीति लोकविदू।

– जिसे लोक विदित हों, जो लोकों को जानता हो, वह है लोकविदू।

कितने हैं लोक?

चार अधोगति के लोक – निरय, असुर, प्रेत, तिर्यक।

एक मनुष्यलोक।

छः देवलोक – चातुर्महाराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मित वशवर्ती।

सोलह रूप ब्रह्मलोक – ब्रह्मपारिषद, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्मा, परित्ताभ, अप्रमाणाभ, आभास्वर, परित्रशुभ, अप्रमाण शुभ, शुभकृत्स्न, वृहत्फल, अविहा, अतप्य, सुदर्श, सुदर्शी, असंज्ञसत्ता, अकनिष्ठक।

चार अरूप ब्रह्मलोक – आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

इस प्रकार लोक इकतीस होते हैं। इनमें से पहले ग्यारह कामभोग के लोक हैं। ब्रह्मलोक ब्रह्माचरण के लोक हैं, जहां कामभोग नहीं होता। रूप ब्रह्मलोक में रूप और नाम दोनों की विद्यमानता होती है, परंतु अरूप ब्रह्मलोक में रूप नहीं होता, केवल नाम होता है। आज रूप शब्द सौंदर्य अथवा आकृति के अर्थ में रूढ़ हो गया है, परंतु उन दिनों की भाषा में रूप भौतिक पदार्थ को भी कहते थे। आज नाम का अर्थ केवल नामकरण रह गया है जिसका प्रयोग किसी को पुकारने, पहचानने के लिए किया जाता है, परंतु उन दिनों की भाषा में नाम चित्त को भी कहते थे। मनुष्य और पशुलोक में ठोस भौतिक शरीर होता है, परंतु अधोगति के कुछ लोकों में और देव व ब्रह्मलोक के प्राणियों के शरीर ठोस नहीं होते, वायव्य होते हैं, परंतु होते हैं

भौतिक ही। केवल अरूप ब्रह्मलोक के प्राणी भौतिक शरीरधारी नहीं होते, उनका शरीर सूक्ष्म वायव्य भी नहीं होता। वे केवल नाममय यानी चित्तमय प्राणी होते हैं। इसी प्रकार असंज्ञसत्ता ब्रह्मलोक में केवल रूपमय प्राणी होते हैं।

एक अन्य गणना में एक कामलोक, दूसरा रूप ब्रह्मलोक और तीसरा अरूप ब्रह्मलोक – यों तीन लोक कहे जाते हैं।

एक अन्य गणना के अनुसार सारा विश्व जिस शून्य व्योम में स्थित है, उसे ओकासलोक, उसमें चूंकि प्राणी विद्यमान हैं, अतः वही सत्त (सत्व) लोक और उसमें संस्कारों की तरंगें समायी हुई हैं, अतः सङ्खारलोक – यों तीन लोक कहे जाते हैं।

सामान्यतया मनुष्यलोक को इहलोक कहते हैं और अन्य सभी को परलोक कहते हैं। साधना के क्षेत्र में नाम और रूप के सकल क्षेत्र को लोक कहा गया है। इसमें सभी इकतीस लोक सम्मिलित हैं।

गणना भले किसी प्रकार से करें, इन सारे लोकों के बारे में जिसे संपूर्ण सच्चाई विदित है, वही लोकविदू कहलाता है। इनके बारे में पूरी जानकारी यथार्थतः उसे ही हो सकती है, जो इन इकतीस लोकों का अनुसंधान पूरा करके इनके परे लोकातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर ले यानी **लोकन्तगू** हो जाय। लोकन्तगू हो जाता है, तो ही सही माने में लोकविदू होता है, अन्यथा भ्रम- भ्रांतियों में ही उलझा रहता है।

लोकों के पार कैसे जायँ?

प्राचीन समय में रोहिताश्व नाम का एक ऋषि था। वह मर कर देवलोक में उत्पन्न हुआ। भगवान के जीवन काल में अनेक देव, ब्रह्मा भगवान से मिलने आते थे और उनसे धर्म संबंधी प्रश्न करते थे। एक समय भगवान अनाथपिंडिक के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे, तब रोहिताश्व देव रात के समय सारे जेतवन को अपने प्रकाश से प्रकाशित करते हुए भगवान से मिलने आया। उसने भगवान से प्रश्न किया कि क्या सारे लोकों के परे की उस

अवस्था तक चल-चल कर पहुँचा जा सकता है, जहां न जन्म है न मृत्यु, न च्युति है न उत्पत्ति?

भगवान ने कहा – नहीं, चल-चल कर उस अवस्था तक नहीं पहुँचा जा सकता; यद्यपि मुक्ति के लिए उस अवस्था तक पहुँचना भी अत्यंत अनिवार्य है।

गमनेन न पत्तब्बो, लोकस्सन्तो कुदाचनं।

– चल-चल कर लोक के अंत तक कभी नहीं पहुँचा जाता।

न च अप्पत्वा लोकन्तं, दुक्खा अत्थि पमोचनं।

– और न ही बिना लोकांत प्राप्त किये दुःख से मुक्ति हो सकती है।

रोहिताश्व देवता यह सुन कर प्रसन्न हुआ, क्योंकि अपने मनुष्य-जीवन में उसने योगबल से सिद्धियां प्राप्त की थीं और उन सिद्धियों के आधार पर तीव्र गति से चलता हुआ लोकों से परे की अवस्था तक पहुँचने के निष्फल प्रयास में अपना सारा जीवन बिता चुका था।

तब भगवान ने समझाया –

इमस्मिंयेव ब्याममत्ते कळेवरे ससञ्ञिम्हि समनके –

– इस व्याम भर लंबे यानी साढ़े तीन हाथ के संज्ञायुक्त शरीर में –

लोकञ्च पञ्ञापेमि, लोकसमुदयञ्च, लोकनिरोधञ्च, लोकनिरोधगामिनिञ्च पटिपदन्ति। (अ० नि० १.४.४५, रोहितस्ससुत्त)

– मैं लोक को प्रज्ञापित करता हूं, लोक-समुदय को, लोक-निरोध को और लोक-निरोधगामिनी प्रतिपदा को भी।

भगवान इसीलिए उनका प्रज्ञापन कर सकते थे, क्योंकि उन्होंने स्वयं लोकोत्तर अवस्था प्राप्त की थी। एक अन्य प्रसंग में भगवान ने कहा –

लोको, भिक्खवे, तथागतेन अभिसम्बुद्धो – भिक्षुओ, तथागत द्वारा लोक जान लिया गया है।

लोकस्मा तथागतो विसंयुत्तो – तथागत लोक से मुक्त हैं।

लोकसमुदयो, भिक्खवे, तथागतेन अभिसम्बुद्धो।

– भिक्षुओ, तथागत द्वारा लोकसमुदय यानी लोक की उत्पत्ति जान ली गयी है।

लोकसमुदयो तथागतस्स पहीनो।

– तथागत की लोकोत्पत्ति प्रहीण हो गयी है, समाप्त हो गयी है।

लोकनिरोधो, भिक्खवे, तथागतेन अभिसम्बुद्धो।

– भिक्षुओ, तथागत द्वारा लोक-निरोध जान लिया गया है।

लोकनिरोधो तथागतस्स सच्छिकतो।

– तथागत को लोक-निरोध का साक्षात्कार हो गया है।

लोकनिरोधगामिनी पटिपदा, भिक्खवे, तथागतेन अभिसम्बुद्धा।

– भिक्षुओ, तथागत द्वारा लोक-निरोधगामिनी प्रतिपदा जान ली गयी है।

लोकनिरोधगामिनी पटिपदा तथागतस्स भाविता।

– तथागत द्वारा लोक-निरोधगामिनी प्रतिपदा भावित कर ली गयी है।

सारे लोकों से परे की अवस्था प्राप्त करने के लिए, सारे लोकों का परिपूर्ण ज्ञान यानी परिज्ञान, अभिज्ञान होना आवश्यक है। लौकिक क्षेत्र के परे की अवस्था वह व्यक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है जिसने अभी समस्त लौकिक परिधि की पूरी-पूरी, यथाभूत जानकारी प्राप्त नहीं की है। अनुभूति के स्तर पर ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेने पर ही कोई व्यक्ति सब लोकों से विमुक्त हो पाता है। तभी उनसे अलिप्त हो पाता है। तभी कहा गया–

सब्बं लोकं अभिञ्ञाय, सब्बं लोके यथातथं।

– सारे लोक को अभिज्ञान से जान कर, सारे लोक को यथा-तथ्य जान कर,

सब्बं लोकं विसंयुत्तो, सब्बलोके अनूपयो – सारे लोक से निर्बंध, सारे लोक से अलिप्त,

जो व्यक्ति समस्त लोकप्रपंच को स्वयं अनुभूतियों से जान कर, उससे विमुक्त हो गया है, निर्लिप्त हो गया है, वही सही माने में लोकविदू है। वही सर्वजित है।

स वे सब्बाभिभू धीरो, सब्बगन्थप्पमोचनो।

– वह धीर पुरुष सबको अभिभूत कर लेने वाला है, वह सब ग्रंथियों से विमुक्त है।

फुट्ठस्स परमा सन्ति, निब्बानं अकुतोभयं। (अ० नि० १.४.२३, लोकसुत्त)

– उसने भयविमुक्त परम निर्वाणिक शांति का स्पर्श कर लिया है, उसे प्राप्त कर लिया है।

ऐसे लोकविदू को लोक के बारे में और लोक से विमुक्त होने के बारे में क्या भय और क्या संशय रह सकता है? परंतु यह होता तभी है, जब लोक के अंतिम छोर को जान कर उसके आगे निकल जाय; समस्त लौकिक क्षेत्र के परे लोकातीत निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर ले।

तस्मा हवे लोकविदू सुमेधो, लोकन्तगू वुसितब्रह्मचरियो।

– इसलिए जो लोकविदू है, सुप्रज्ञ है, लोक के अंत को जानने वाला है, जिसने ब्रह्माचरण पूरा कर लिया है,

लोकस्स अन्तं समितावि ञत्वा, नासीसती लोकमिमं परञ्चाति।

(अ० नि० १.४.४५, रोहितस्ससुत्त)

– (वह) समता के आधार पर लोक का अंत जान कर, इस लोक या परलोक में कहीं आसक्त नहीं होता।

सचमुच जो सारे लोक प्रपंच को जान जाता है, वह लोक के प्रति आसक्त नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति लोकविदू तभी होता है जबकि वह लोक के स्वभाव को जान जाता है; लोक की उत्पत्ति को जान जाता है; लोक के निरोध को जान जाता है; लोक निरोध के उपाय को जान जाता है। इन चारों को वह अपने शरीर के भीतर ही जान पाता है।

क्या है लोक स्वभाव?

भगवान ने समझाया –

'लुज्जती'ति खो, भिक्खु, तस्मा 'लोको'ति वुच्चति।

(सं० नि० २.४.८२, लोकपञ्हासुत्त)

– हे भिक्षु, टूटता है इसलिए लोक कहा जाता है।

लुज्जित होता है माने लुप्त होता है, प्रलुप्त होता है, विनष्ट होता है, उखड़ता- पुखड़ता है।

इस क्षण उत्पन्न होता है और अगले क्षण विनष्ट हो जाता है, इसे ही लुज्जित होना, टूटना कहा गया।

क्या लुज्जित होता है, क्या विलुप्त होता है?

चक्षु विलुप्त होता है, रूप विलुप्त होता है। उन दोनों के कारण उत्पन्न होने वाला चक्षु विज्ञान विलुप्त होता है। चक्षु का स्पर्श विलुप्त होता है और चक्षु के स्पर्श से होने वाली सुखद, दुःखद, असुखद-अदुःखद वेदना विलुप्त होती है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां, उनके अपने-अपने विषय, उनका अपना-अपना विज्ञान, उनका स्पर्श और तज्जन्य वेदनाएं विलुप्त होती हैं, लुज्जित होती हैं, नष्ट होती हैं।

(सं० नि० २.४.८२, लोकपञ्हासुत्त)

इन छहों इंद्रियों के प्रपंच **पलोक-धम्मा** हैं यानी विनाशधर्मा हैं, इसीलिए लोक 'लोक' कहलाता है।

(सं० नि० २.४.८४, पलोकधम्मसुत्त)

कतमो च, भिक्खवे, लोकस्स समुदयो – भिक्षुओ, लोक का समुदय क्या है?

अपने-अपने विषयों सहित छहों इंद्रियों का समुदय ही लोक समुदय है, यही दुःख समुदय है। चक्षु और रूप से चक्षु विज्ञान की उत्पत्ति होती है। तीनों के मिलने को स्पर्श कहते हैं। स्पर्श के प्रत्यय से वेदना; वेदना के प्रत्यय से तृष्णा; तृष्णा के प्रत्यय से उपादान यानी आसक्ति; उपादान के प्रत्यय से भव; भव के प्रत्यय से जन्म; जन्म के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। यही लोक का समुदय है।

इसी प्रकार कान, नाक, जिह्वा, त्वचा और मन की इंद्रियों पर लोक का समुदय होता है, यानी दुःख का समुदय होता है।

कतमो च, भिक्खवे, लोकस्स अत्थङ्गमो – भिक्षुओ, लोक का अस्त होना क्या है?

चक्षु और रूप से चक्षु विज्ञान उत्पन्न होता है, तीनों के मेल से स्पर्श उत्पन्न होता है। स्पर्श के प्रत्यय से वेदना; वेदना के प्रत्यय से तृष्णा। इस तृष्णा के निरोध से चक्षु और रूप संबंधी लोक स्वतः निरुद्ध हो जाता है। जैसे कि –

तण्हाय असेसविरागनिरोधा उपादाननिरोधो।

– तृष्णा के संपूर्ण निरोध से उपादान का निरोध हो जाता है।

उपादान के निरोध से भव; भव के निरोध से जन्म; जन्म के निरोध से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार लोक का **अत्थङ्गमन** हो जाता है, लोक अस्त हो जाता है। यही निरोध बाकी पांचो इंद्रियों के क्षेत्र पर भी होता है, तो सारे लोकों का निरोध हो जाता है; सारे दुःखों का निरोध हो जाता है।

(सं० नि० २.४.१०७, लोकसमुदयसुत्त)

इस लोक-निरोध का यानी दुःख-निरोध का उपाय क्या है?

उपाय है अपने भीतर देखना यानी विपश्यना करना। इसके लिए शील में प्रतिष्ठित हो कर, मन को एकाग्र कर, अपनी प्रज्ञा द्वारा विकारों का निष्कासन शुरू करना होता है। तृष्णा जहां जागे, वहीं उसे सजग चित्त से देख ले और यों उसे दुर्बल बना-बना कर नष्ट कर ले। तृष्णा को यथाभूत देखने के लिए तृष्णा के कारण को यानी वेदना को यथाभूत देखना होता है। इंद्रियों द्वारा अपने विषयों के स्पर्श से चित्त और शरीर पर उत्पन्न होने वाली संवेदना, जो सतत होती रहती है, उसे विपश्यना द्वारा तटस्थ भाव से देखते रहने से तृष्णा उत्पन्न करने वाला स्वभाव पलटने लगता है।

काये कायानुपस्सी विहरति ...पे०... वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति ...पे०... चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति ...पे०... धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं।

(दी० नि० २.३७३, महासतिपट्ठानसुत्त)

– संप्रज्ञानी और स्मृतिमान रहते हुए तपस्वी कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धम्मानुपश्यना करता है। लोक के प्रति अभिध्या और दौर्मनस्य यानी लोभ और द्वेष को दूर करता है।

विपश्यना करते हुए यह देखता है कि तृष्णा कहां उत्पन्न होती है? तृष्णा लोक में उत्पन्न होती है। लोक यानी अपने शरीर के भीतर नाम और रूप के चैतसिक और भौतिक प्रपंच का क्षेत्र।

यं लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति। (दी० नि० २.४००, महासतिपट्ठानसुत्त)

– इस शरीर में जहां प्रिय लगता है, अच्छा लगता है, वहीं तृष्णा जागती है, वहीं तृष्णा निवास करती है।

किञ्च लोके पियरूपं सातरूपं – शरीर में क्या प्रिय लगता है, अच्छा लगता है?

तो कहा गया –

चक्खु लोके... सोतं लोके... घानं लोके... जिव्हा लोके... कायो लोके... मनो लोके...।

रूपा लोके... सद्दा लोके... गन्धा लोके... रसा लोके... फोट्ठब्बा लोके... धम्मा लोके...।

चक्खुविञ्ञाणं लोके... सोतविञ्ञाणं लोके... घानविञ्ञाणं लोके... जिव्हाविञ्ञाणं लोके... कायविञ्ञाणं लोके... मनोविञ्ञाणं लोके...।

चक्खुसम्फस्सो लोके... सोतसम्फस्सो लोके... घानसम्फस्सो लोके... जिव्हासम्फस्सो लोके... कायसम्फस्सो लोके... मनोसम्फस्सो लोके...।

चक्खुसम्फस्सजा वेदना लोके... सोतसम्फस्सजा वेदना लोके... घानसम्फस्सजा वेदना लोके... जिव्हासम्फस्सजा वेदना लोके... कायसम्फस्सजा वेदना लोके... मनोसम्फस्सजा वेदना लोके...।

रूपसञ्ञा लोके... सद्दसञ्ञा लोके... गन्धसञ्ञा लोके... रससञ्ञा लोके... फोट्ठब्बसञ्ञा लोके... धम्मसञ्ञा लोके...।

रूपसञ्चेतना लोके... सद्दसञ्चेतना लोके... गन्धसञ्चेतना लोके... रससञ्चेतना लोके... फोट्ठब्बसञ्चेतना लोके... धम्मसञ्चेतना लोके...।

रूपतण्हा लोके... सद्दतण्हा लोके... गन्धतण्हा लोके... रसतण्हा लोके... फोट्ठब्बतण्हा लोके... धम्मतण्हा लोके...।

रूपवितक्को लोके... सद्दवितक्को लोके... गन्धवितक्को लोके... रसवितक्को लोके... फोट्ठब्बवितक्को लोके... धम्मवितक्को लोके...।

रूपविचारो लोके... सद्दविचारो लोके... गन्धविचारो लोके... रसविचारो लोके... फोट्ठब्बविचारो लोके... धम्मविचारो लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उप्पज्जति, एत्थ निविसमाना निविसति।

यानी इंद्रियों और ऐंद्रिय विषयों के प्रपंच क्षेत्र में तृष्णा जागती है, वहीं निवास करती है।

इदं वुच्चति, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं।

-भिक्षुओ, इसे ही दुःख समुदय आर्यसत्य कहते हैं।

और इसी प्रकार –

यं लोके पियरूपं सातरूपं, एत्थेसा तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झमाना निरुज्झति। (दी० नि० २.४००-४०१, महासतिपट्ठानसुत्त)

इस शरीर में जहां प्रिय लगता है, अच्छा लगता है, वहीं तृष्णा का प्रहाण होता है, वहीं वह निरुद्ध होती है। निरोध के लिए भी छहों इंद्रियां और उनके विषयों के क्षेत्र की वही विशद सूची है, जैसी समुदय के लिए बतायी गयी।

अतः शरीर में जहां, जिस किसी इंद्रिय के आधार पर सुखद अनुभूति हो, वहीं जागती हुई तृष्णा को देख कर उसका प्रहाण करना होता है,

उसका निरोध करना होता है। यों अपने भीतर नाम-रूप का सारा क्षेत्र तृष्णा के निरोध के लिए प्रयुक्त होता है।

यह अभ्यास कोरी कल्पनाओं से नहीं किया जा सकता, न केवल चिंतन-मनन द्वारा ही किया जा सकता है। यह अनुभूति का क्षेत्र है यह अनुभूति अपनी ही एक व्याम की यानी साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर करनी होती है।

यों इंद्रियजन्य संवेदनाओं के आधार पर तृष्णाओं का समुदय देखते-देखते वहीं उनका निरोध भी देख लिया जाता है। इस प्रकार चारों लोक-सत्य अपने शरीर के भीतर ही देखे जाते हैं। लोकों के परे की लोकोत्तर, लोकातीत अवस्था कहीं बाहर नहीं है, अपने भीतर ही है। उसका साक्षात्कार भी अपने भीतर ही होता है। सारे लोकों के अंत तक पहुँचने के लिए बाहर यात्रा नहीं करनी होती, भीतर करनी होती है। बाहर के सारे लोकों का भीतर से गहरा संबंध है। सारे लोकों की अनुभूतियां अपने भीतर समायी होती हैं।

अपने भीतर विपश्यना करते-करते जब पहली बार लोकोत्तर निर्वाण की अनुभूति होती है, तब साधक स्रोतापन्न हो जाता है यानी मुक्ति के स्रोत में पड़ जाता है। इस अवस्था में तभी पहुँचता है, जब चारों अधोलोक के समस्त कर्म-संस्कारों का प्रहाण हो चुका होता है। इस प्रथम निर्वाणिक अनुभूति के बाद अधोलोक से संबंधित नये कर्म-संस्कार बनने बंद हो जाते हैं। पुराना संग्रह समाप्त हुआ, नया बन नहीं पा रहा, तो स्रोतापन्न हुए व्यक्ति के लिए अपाय गति के चारों अधोलोक सदा के लिए निरुद्ध हो जाते हैं। इन चार अपाय गति वाले लोकों में उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता। इन लोकों से उसे सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। इसी प्रकार विपश्यना साधना में आगे बढ़ते हुए सकदागामी और तदुपरांत अनागामी अवस्था की निर्वाणिक अनुभूति होने पर मनुष्यलोक और काम-भूमि वाले छहों देवलोकों से संबंधित पुराने संस्कारों का क्षय हो जाता है; इन लोकों से संबंधित नये संस्कार बन नहीं पाते, अतः अनागामी व्यक्ति काम-भूमि लोक को सदा के लिए निरुद्ध कर लेता है। उसका जन्म अधोलोक में तो नहीं ही होता; काम-लोक में भी

नहीं होता। ऐसा व्यक्ति रूप ब्रह्मलोक में जन्म लेकर, वहीं अरहंत अवस्था को प्राप्त कर, सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

अनागामी अवस्था को प्राप्त कर जब साधक विपश्यना का अभ्यास कायम रखता है, तब रूप और अरूप ब्रह्मलोकों के कर्म- संस्कार भी समाप्त कर लेता है। इन लोकों के नये संस्कार बन नहीं पाते। यों वह सारे लोकों के संस्कारों का क्षय करके सदा के लिए नितांत विमुक्त हो जाता है। अब उसका किसी लोक में पुनर्जन्म नहीं होता।

खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं। (सु० नि० २३८, रतनसुत्त)

– उसके पुराने लोक-संस्कार नष्ट हो जाते हैं और नये बन नहीं पाते।

ऐसे ही व्यक्ति के लिए कहा जा सकता है कि वह इस अवस्था पर पहुँच गया है जहां –

विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा। (ध० प० १५४, जरावग्ग)

– चित्त संस्कार-विहीन हो गया, तृष्णा-क्षय की अवस्था प्राप्त हो गयी।

यही अरहंत की अवस्था है, यही बुद्ध की अवस्था है, यही लोकविदू की अवस्था है, जहां पहुँच कर सकल लौकिक क्षेत्र को पार कर लिया गया। तो ही लोक के बारे में सही जानकारी हुई। तथागत लोकविदू थे। मार के सारे क्षेत्र को जान कर उन्होंने उसे त्याग दिया और उसके पार चले गये।

हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं॥

(ध० प० १७५, लोकवग्ग)

– सूर्य-पथ आकाश में हंस जाते हैं, ऋद्धिमान योगी भी आकाश में गमन करते हैं। धीर पुरुष मार को, उसकी सेना सहित पराजित कर लोक से परे निर्वाणिक अवस्था में चले जाते हैं।

नाम-रूप का सारा लौकिक प्रपंच ही मार और उसकी सेना का क्षेत्र है। कोई बुद्ध, अरहंत, लोकविदू होते हैं तो उनका उससे निस्सरण हो जाता है, वे उसके बाहर निकल जाते हैं।

यह निस्सरण किस प्रकार होता है? जो लोक के आस्वादन को जान लेता है और उस आस्वादन के खतरे को, दुष्परिणाम को यानी 'आदीनव' को जान लेता है, वह लोक के निस्सरण को जान लेता है।

बुद्ध होने के पूर्व बोधिसत्त्व के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि लोक में यथार्थतः आस्वादन क्या है, इसका आदीनव क्या है, इसका निस्सरण क्या है?

"भिक्षुओ, तब मैंने लोक के आस्वादन की खोज की। लोक का जो आस्वादन है उसे जाना, उसे प्रज्ञा से यथार्थतः जाना। मैंने लोक के आदीनव की खोज की। लोक में जितना आदीनव है उसे जाना, उसे प्रज्ञा से यथार्थतः जाना। मैंने लोक में जो निस्सरण है उसकी खोज की, लोक में जो निस्सरण है उसे जाना, उसे प्रज्ञा से यथार्थतः जाना।"

क्या जाना?

यं खो लोकं पटिच्च उप्पज्जति सुखं सोमनस्सं, अयं लोके अस्सादो।

– यह जो लोक के कारण (नाम-रूप के इंद्रिय प्रपंच के कारण) सुख, सौमनस्य उत्पन्न होता है, यही लोक का आस्वादन है।

अधिकांश लोग इसी आस्वादन में फँसे रहते हैं। विरले ही होते हैं, जो यह बोध प्राप्त कर पाते हैं कि यह सकल लौकिक प्रपंच अनित्य है, अतः दुःख है। इसलिए उसके प्रति स्वाद-ग्रस्त होना खतरनाक है, आदीनव है।

यं लोको अनिच्चो दुक्खो विपरिणामधम्मो, अयं लोके आदीनवो।

– यह जो लोक का अनित्य, दुःखजनक और विकृत होने का अर्थात बदलते रहने का स्वभाव है, यही लोक का आदीनव यानी खतरा है, दुष्परिणाम है।

यह खतरा, यह दुष्परिणाम जिसकी समझ में आ जाता है; अनुभूति के स्तर पर समझ में आ जाता है, वह व्यक्ति लौकिक आस्वादन को छोड़ देता है। उसके प्रति समस्त कामनाएं दूर कर लेता है। सारे लौकिक क्षेत्र से परे निकल जाता है।

यो लोके छन्दरागविनयो छन्दरागप्पहानं, इदं लोके निस्सरणं।

(अ० नि० १.३.१०४, पुब्बेवसम्बोधसुत्त)

– यह जो लोक से वीतराग होना है, लोक के प्रति राग का विनष्ट हो जाना है, यही लोक से बाहर निकलना है।

इस प्रकार मार के क्षेत्र से निस्सरण होने के पश्चात ही भगवान ने घोषणा की कि वे सम्यक संबुद्ध हो गये हैं।

भिक्षुओ, मैंने लोक के आस्वादन को यथार्थतः आस्वादन के रूप में जान लिया। लोक के आदीनव को यथार्थतः आदीनव के रूप में जान लिया। लोक के निस्सरण को यथार्थतः निस्सरण के रूप में जान लिया। इसीलिए लोगों में मैंने यह घोषणा की कि मुझे सर्वोत्तम संबोधि प्राप्त हो गई है, यह मेरा अंतिम जन्म है, अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

(अ० नि० १.३.१०४, पुब्बेवसम्बोधसुत्त)

लौकिक आस्वादन का, आदीनव का और निस्सरण का अपना-अपना महत्व है। लोक में यदि आस्वादन न हो तो लोक में प्राणी आसक्त ही न हों। लोक में यदि आदीनव न हो, तो लोक से प्राणी विरक्त ही न हों। लोक से यदि निस्सरण न हो, तो लोक से प्राणी विमुक्त ही न हों। निस्सरण है, इसीलिए विमुक्ति है, जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा है।

परंतु यदि कोई व्यक्ति लोक के आस्वादन को यथार्थ रूप में न जाने, तो उसमें आसक्त हो ही जाता है। यदि लोक में आदीनव को यथार्थ रूप में न जाने, तो विरक्त हो ही नहीं सकता। यदि लोक में से निस्सरण को यथार्थ रूप में न जाने, तो लोक से बाहर निकल ही नहीं सकता; भवचक्र में उलझा ही रहता है। ऐसा व्यक्ति न ब्राह्मणों में वास्तविक ब्राह्मण है, न श्रमणों में वास्तविक श्रमण। ऐसा व्यक्ति इसी जीवन में यथार्थतः ब्राह्मण्य और श्रामण्य का साक्षात्कार कर विहार नहीं कर पाता।

कोई व्यक्ति लोक में आस्वादन, आदीनव और निस्सरण को यथार्थतः नहीं जानता तो प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुलोम धारा के लोक-चक्र में, भवचक्र में, दुःख-चक्र में पिसता चला जाता है। इंद्रियों पर प्रिय आलंबनों के स्पर्श से सुखद संवेदना तो होती ही है और अविद्या के अज्ञान में पड़ा हुआ

व्यक्ति यदि उस सुखद संवेदना का रसास्वादन करता हुआ राग की तृष्णा जगाता है तो परिणामतः अपना दुःख बढ़ाता चला जाता है। परंतु यदि कोई व्यक्ति उस सुखद संवेदना के अनित्य स्वभाव को समझ कर, उसका रसास्वादन न करता हुआ, उसके प्रति राग की तृष्णा नहीं जगाता, तो प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रतिलोम धारा के नियमानुसार लोक-चक्र, भवचक्र, दुःख- चक्र से निकलता चला जाता है और धर्म- चक्र के बल पर मुक्त होता जाता है।

कुछ मानव और देव-ब्रह्म इस दिशा में चिंतन-मनन तो करते हैं, परंतु यथार्थतः अनुभव न कर सकने के कारण लोक-चक्र में ही उलझे रहते हैं, निस्सरण नहीं कर पाते। जो बुद्ध होते हैं, वे उसका यथार्थतः अनुभव करके विमुक्त हो जाते हैं और सही माने में लोकविदू हो जाते हैं। लोकविदू होते हैं तो सर्वज्ञ हो जाते हैं।

सर्वज्ञ इस माने में कि वे समस्त लोक- चक्र को अनुभूति से जान गये हैं, उसके संचलन को अनुभूति से जान गये हैं, उसके निरोध को अनुभूति से जान गये हैं और निरोध के सही, नैसर्गिक उपाय को अनुभूति से जान गये हैं। अनुभूति से जान गये हैं अर्थात स्व-वेदन के स्तर पर जान गये हैं। शरीर पर संवेदनाएं होती हैं, पर वे राग-द्वेष की प्रतिक्रिया करके नया कर्म-बंधन नहीं बांधते और परिणामस्वरूप पुरानों की निर्जरा कर देते हैं। यह केवल दार्शनिक या सांप्रदायिक मान्यता वाली निर्जरा नहीं है। इसे अनुभूतियों से जाना जाता है। इसीलिए यह सही निर्जरा है, सम्यक निर्जरा है। काल्पनिक नहीं है।

सो नवञ्च कम्मं न करोति - वह नया कर्म नहीं करता है।

पुराणञ्च कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्ती करोति।

- पुराने कर्म का (संवेदनाओं के) स्पर्श द्वारा अंत कर देता है।

सन्दिट्ठिका निज्जरा - यह सांदृष्टिक निर्जरा है।

अकालिका - इसी क्षण फल देने वाली,

एहिपस्सिका - ऐसी निर्जरा है जिसे कोई भी आये और स्वयं अनुभव करके देख ले।

ओपनेय्यिका - निर्वाण की ओर ले जाने वाली है।

पच्चत्तं वेदितब्बा विञ्ञूहि। (अ० नि० १.४.१९५, वप्पसुत्त)

- इसे प्रत्येक समझदार व्यक्ति स्वयं अनुभव कर सकता है। अतः यह अनुभव करके देख लेने योग्य है।

लोकों से विमुक्त कर देने वाली इस विपश्यना विद्या की भगवान को जानकारी है, इस माने में वे लोकविदू हैं; इसी माने में सर्वज्ञ हैं। ऐसी जानकारी बहुत कम लोगों को हो पाती है। ब्रह्मलोक निवासी अधिकांश ब्रह्मा भी इस विद्या से अनभिज्ञ रह कर ही जीवन बिता देते हैं। कामलोक के देवमनुष्य व अन्य अधोगति वाले प्राणियों का तो कहना ही क्या!

कर्मों की निर्जरा करने वाली विपश्यना का अभ्यास किये बिना कोई व्यक्ति मनुष्य-जीवन में काम-भोगों से विरत होकर पहले से चौथे ध्यान तक की समापत्तियों का अभ्यास कर लेता है, तो मरने पर वह किसी रूप ब्रह्मलोक में जन्म लेता है। इसी प्रकार पांचवें से आठवें ध्यान की समापत्तियों का अभ्यास कर लेता है तो अरूप ब्रह्मलोक में जन्म लेता है।

ये खो ते... **ब्रह्मकायिका देवा** - वे ब्रह्मकायिक देव यानी ब्रह्मा,

ब्रह्मेन आयुना सन्तुट्ठा - ब्रह्मा की लंबी आयु से संतुष्ट रहते हैं।

ब्रह्मेन वण्णेन ब्रह्मेन सुखेन ब्रह्मेन यसेन ब्रह्मेन आधिपतेय्येन सन्तुट्ठा।

- ब्रह्म वर्ण से, ब्रह्म सुख से, ब्रह्म शक्ति से और ब्रह्म अधिकारों से संतुष्ट रहते हैं।

ते उत्तरि **निस्सरणं यथाभूतं नप्पजानन्ति।** (अ० नि० २.७.५६, तिस्सब्रह्मासुत्त)

- वे उस ब्राह्मी अवस्था से आगे यथाभूत निस्सरण को नहीं जानते।

ऐसे किसी व्यक्ति को निर्वाण का साक्षात्कार नहीं होता। और क्योंकि मनुष्य व देव जीवन में उसने विपश्यना करके स्रोतापन्न अवस्था भी प्राप्त नहीं की, इसलिए ब्रह्मलोक का निवासी होते हुए भी वह अपने अधोगति के

संपूर्ण कर्म-संस्कारों से मुक्त नहीं हुआ होता। विपश्यना विहीन लौकिक ध्यानों के कुशल संस्कारों की मोटी-मोटी परतों के कारण लंबे अरसे तक ब्रह्मलोक का आनंद अवश्य भोगता है, परंतु समय पूरा होने पर जो पूर्व-संचित अकुशल संस्कार अनुशय रूप में बचे हैं, उनके कारण नीचे के लोकों में पुनर्जन्म ग्रहण करता है और यों लोक-चक्र में, दु:ख- चक्र में पिसता ही चला जाता है।

वैसे तो अरूप ब्रह्मलोक ही लोकाग्र यानी भवाग्र लोक है, क्योंकि वह सारे लोकों में मूर्धन्य लोक है, परंतु उन दिनों की प्रचलित भाषा में रूप ब्रह्मलोक को भी अग्रलोक या लोकाग्र अथवा अग्रभव या भवाग्र कहते थे, क्योंकि वह कामलोकों से तो आगे है ही। उन दिनों एक मिथ्या मान्यता यह थी कि यह लोक और इस लोक के प्राणी नित्य, शाश्वत, ध्रुव हैं; जबकि वे वास्तविक नित्य, शाश्वत, ध्रुव, निर्वाण के बारे में कुछ नहीं जानते थे। रूप ब्रह्मलोक के अनेक ब्रह्माओं और महाब्रह्माओं को तो यह भी पता नहीं था कि उनके ऊपर कोई अरूप ब्रह्मलोक भी है जिसमें पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल – इन चारों महाभूतों का नितांत अभाव है। वहां केवल चित्तधारी अशरीरी ब्रह्माओं का ही निवास है। उसके भी परे, नाम और रूप से सर्वथा परे निर्वाण की यथार्थता को वे भला जानते ही कैसे!

महाब्रह्मा

हम भगवान के जीवन काल की एक घटना देखते हैं।

उन दिनों भगवान और भगवान के कोई- कोई शिष्य भी ऋद्धिबल से सशरीर अथवा मनोमय शरीर से देवलोक और ब्रह्मलोक हो आते थे। उनमें से अधिकांश विमुक्त विपश्यी होते थे, परंतु कभी कोई विपश्यना न किया हुआ भिक्षु भी चारों लौकिक ध्यानों के ऋद्धिबल से इन लोकों की यात्रा कर आता था। ऐसे ही एक भिक्षु के मन में यह जिज्ञासा जागी कि वह लोक कौन सा है, कहां है, जहां भौतिकता का पूर्ण निरोध हो जाता है यानी जहां पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु महाभूतों का सर्वथा अभाव हो जाता है।

यही जिज्ञासा लिए हुए वह चातुर्महाराजिक देवलोक में गया। उसने वहां के देवताओं से यह प्रश्न पूछा। उन्होंने इस विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए उसे उसी लोक के चारों लोकपालों के पास भेज दिया। चारों लोकपाल महाराजाओं ने भी अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए उसे तावतिंस देवलोक भेज दिया। वहां के देवों ने उसे देवराज शक्र के पास भेजा। देवराज शक्र ने याम देवलोक के देवताओं के पास भेजा। उन्होंने अपने अधिपति सुयाम नामक देवता के पास भेजा। सुयाम ने उसे तुषित देवलोक के देवताओं के पास और उन्होंने तुषित देवलोक के अधिपति संतुषित देव के पास भेजा। यों क्रमश: वह निर्माणरति देवलोक के देवता और उसके अधिपति सुनिम्मित देव के पास से होता हुआ परनिर्मित वशवर्ती देवलोक के देवताओं और उनके अधिपति वशवर्ती देव के पास पहुँचा। वहां से भी निराश होकर वह ब्रह्मलोक के ब्रह्मा के पास जा पहुँचा। वहां भी उसे निराशा ही हाथ लगी। ब्रह्मलोक के ब्रह्माओं ने कहा कि हमसे बढ़-चढ़ कर महाब्रह्मा है, जो सर्व- विजयी है, अपराजित है, परमार्थ-द्रष्टा है, जगत्पति है, ईश्वर है, कर्त्ता-निर्माता है, श्रेष्ठ है, सारी सृष्टि का जनक है, पिता है। वही तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे सकेगा। महाब्रह्मा से मिलने का कोई समय निश्चित नहीं, वह जब कभी स्वत: प्रकट हो जाय, तो ही मिलना हो सकता है। वे नहीं बता सके कि महाब्रह्मा इस समय कहां है? उन्होंने केवल इतना बताया कि उसके प्रकट होने के पूर्व बहुत तेज प्रकाश फैलता है।

संयोग से उसी समय बहुत तेज प्रकाश फैला और महाब्रह्मा प्रकट हुआ। तब भिक्षु ने महाब्रह्मा से पूछा कि हे महाब्रह्मा, वह स्थान कौन सा है, जहां चारों महाभूत निरुद्ध हो जाते हैं? उत्तर में महाब्रह्मा ने कहा –

हे भिक्षु, मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा, सर्व- विजयी, अपराजित, परमार्थ-द्रष्टा, जगत्पति, ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ हूं, सृष्टि का जनक हूं, पिता हूं।

इस पर भिक्षु ने कहा कि हे ब्रह्मा, मैं आपसे यह नहीं पूछ रहा कि आप कौन हैं और क्या हैं? मैं तो यह पूछ रहा हूं कि चारों महाभूत कहां जाकर निरुद्ध हो जाते हैं?

महाब्रह्मा ने फिर वही उत्तर दिया जो पहले दिया था। भिक्षु ने फिर कहा – "मैं यह नहीं पूछ रहा कि आप कौन हैं? क्या हैं? मैं पूछ रहा हूं कि महाभूत कहां निरुद्ध हो जाते हैं?"

तीसरी बार भी इसी प्रकार प्रश्नोत्तर की पुनरावृत्ति होने पर महाब्रह्मा भिक्षु की बाँह पकड़ कर उसे एक ओर ले गया और समझाते हुए बोला – "हे भिक्षु, ये ब्रह्मलोक के सभी ब्रह्मा ऐसा मानते हैं कि मुझसे कुछ अज्ञात नहीं है, कुछ अदृष्ट नहीं है, कुछ अविदित नहीं है, ऐसा कुछ नहीं है जिसका मैंने साक्षात्कार नहीं कर लिया है। इसलिए उनके सामने मैं तुम्हें क्या जवाब देता? सच्चाई तो यह है कि मैं स्वयं नहीं जानता कि चारों महाभूत कहां निरुद्ध हो जाते हैं?"

महाब्रह्मा ने यह सुन रखा था कि इस समय मनुष्यलोक में सम्यक संबुद्ध प्रकट हुए हैं जो वस्तुतः सर्वज्ञ हैं। उसने यह भी जान लिया था कि यह भिक्षु वहीं से आया है। अतः उसे धिक्कारते हुए कहा कि यह तुम्हारा बड़ा दोष है, बड़ा अपराध है, जो भगवान को छोड़ कर इस प्रश्न का उत्तर अन्यत्र पाने के लिए आये हो। वे ही तुम्हारी समस्या का समाधान कर सकेंगे।

भिक्षु ब्रह्मलोक से उल्टे पांव भगवान के पास लौट आया और उन्हें अपनी आप-बीती कह सुनायी। उसने भगवान से भी यही प्रश्न किया कि चारों महाभूत कहां निरुद्ध हो जाते हैं? भगवान ने उसे समझाया कि जिस अरूप ब्रह्मलोक में ये चारों महाभूत निरुद्ध हो जाते हैं, लोकाग्र होते हुए भी वह लौकिक ही है, लोकोत्तर नहीं। अतः उससे भी आगे की लोकोत्तर अवस्था का उल्लेख करते हुए भगवान ने कहा –

एत्थ दीघञ्च रस्सञ्च, अणुं थूलं सुभासुभं।
एत्थ नामञ्च रूपञ्च, असेसं उपरुज्झति॥

– वहां दीर्घ या ह्रस्व, अणु या स्थूल, शुभ या अशुभ, (यहां तक कि) नाम और रूप (दोनों) पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं।

अरूप ब्रह्मलोक में तो केवल भौतिक रूप समाप्त होता है, वहां विज्ञान यानी चित्त यानी नाम शेष रहता है। परंतु लोकोत्तर निर्वाण में तो नाम यानी चित्त भी समाप्त हो जाता है।

विञ्ञाणं अनिदस्सनं – जहां (प्रतिसंधि) विज्ञान भी नहीं है।

(दी० नि० १.४९९, केवट्टसुत्त)

लोकविदू तथागत उस अवस्था तक पहुँचे होते हैं और अन्य लोगों को उस अवस्था तक पहुँचने में सहायक बनते हैं।

वक ब्रह्मा

सहंपति, सनत्कुमार, घटीकार, तुदु जैसे कुछ ब्रह्मा, महाब्रह्मा विपश्यी भी थे और भगवान की महत्ता को पूरी तरह जानते थे। परंतु अनेक ऐसे थे जो लोकाग्र ब्रह्मलोक को तथा अपने आपको भी नित्य, शाश्वत, ध्रुव मानते थे। अतः इस विषय में उनका जीवन अज्ञानमय अंधकार से भरा था। कोई ब्रह्मलोकवासी होता है तो मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का जीवन जीता है। वह राग नहीं जगाता, द्वेष नहीं जगाता; अतः वीतराग, वीतद्वेष का जीवन जीता है। अतः एक अंश में शुद्ध जीवन जीता है। परंतु यदि अपने लोक को और स्वयं अपने आप को नित्य, शाश्वत, ध्रुव होने की मिथ्या दृष्टि धारण किये होता है तो विद्या से दूर, अविद्या का शिकार होता है, मोह-मूढ़ता का शिकार होता है। वह वीतमोह नहीं हो पाया। अतः अपनी मुक्ति से वंचित रह जाता है। ऐसे अवीतमोह ब्रह्मा अनेक थे। बक ब्रह्मा उनमें से एक था।

भगवान ने देखा कि वह इसी मिथ्या दृष्टि में आकंठ डूबा हुआ है। उस पर अनुकंपा करते हुए भगवान उससे मिलने ब्रह्मलोक गये। बक ब्रह्मा से मिले। वह इसी बात पर अड़ा रहा कि वह जिस लोक में है उससे आगे और कोई लोक नहीं है, उससे आगे कोई निस्सरण नहीं है। सारे लोकों से परे निर्वाण की अवस्था तो उसके लिए सर्वथा अगम्य थी ही, अरूप ब्रह्मलोक भी उसके लिए अगम्य था। भगवान ने समझाया कि ब्रह्मलोक में भी आभास्वर, शुभकृत्स्न और बृहत्फल नामक रूप ब्रह्मलोक उसके लोक से

ऊपर हैं, जो कि उसके लिए अगम्य हैं, जिन्हें वह बिल्कुल नहीं जानता। लेकिन बक ब्रह्मा इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने अपने ऋद्धिबल के नशे में भगवान को चुनौती दी और उन्हें इस लोक से अंतर्धान होने को ललकारा। दोनों में आंख-मिचौनी का खेल चला। इस प्रतिस्पर्द्धा में बक ब्रह्मा बुरी तरह हार गया। सारी ब्रह्मपरिषद भगवान के ऋद्धिबल से चमत्कृत हो उठी। भगवान ने बक ब्रह्मा को समझाया कि इस लोक से ही निस्सरण नहीं है, सारे लोकों से निस्सरण है।

कोई सारे लोकों से निस्सरण कर क्षीणास्रव हो जाता है, तो ही लोकविदू होता है। भगवान ऐसे ही लोकविदू थे।

लोकविदू तथागत के दस बल होते हैं। उन दस बलों में एक बल यह है कि वे अपने दिव्य-चक्षु से प्राणियों को मरते और मर कर किस लोक में, कहां उत्पन्न हो रहे हैं, यह देख सकते हैं। तभी लोकविदू हैं।

तथागत के दस बलों में एक बल यह भी है कि तथागत अनेक धातु और नाना धातु वाले लोकों को यथावत जानते हैं। सभी लोकों की अपनी-अपनी धातु यानी तरंगें और तरंगों का स्वभाव होता है। तथागत से कोई लोक अज्ञात नहीं, किसी लोक की तरंगें अज्ञात नहीं, किसी लोक का स्वभाव अज्ञात नहीं। इनसे परे लोकोत्तर निर्वाण भी उन्हें ज्ञात है। इस माने में वे सर्वज्ञ हैं। ऐसे दस बलधारी हैं, तो ही सही माने में लोकविदू हैं।

इतिपि सो भगवा लोकविदू।

इतिपि सो भगवा अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि

इतिपि सो भगवा अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि

– वे भगवान ऐसे अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि भी हैं।

पहले समझें अनुत्तर किसे कहते हैं?

उत्तर माने जवाब।

अनुत्तर माने जिसका कोई जवाब नहीं यानी लाजवाब; जिसका कोई मुकाबला नहीं, जिसकी कोई बराबरी नहीं, जिसकी कोई तुलना नहीं, जिसकी कोई उपमा नहीं।

एकपुग्गलो, भिक्खवे, लोके उप्पज्जमानो उप्पज्जति।

– भिक्षुओ, लोक में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न होता है जो –

अदुतियो यानी अद्वितीय होता है, उसके जैसा कोई दूसरा नहीं होता।

असहायो यानी जो अपने आप पर निर्भर करता है, जिसे किसी सहायक की आवश्यकता नहीं होती।

अप्पटिमो यानी जो अप्रतिम होता है।

अप्पटिसमो यानी जो अप्रतिसम होता है। उसकी समता करने वाला कोई दूसरा नहीं होता।

अप्पटिभागो यानी जो अप्रतिभाग होता है। उसके जैसी एकरूपता लिए हुए कोई दूसरा नहीं होता।

अप्पटिपुग्गलो यानी जो अप्रतिपुद्गल होता है। उसके जैसा कोई अन्य प्राणी नहीं होता।

असमो – उस समान अन्य कोई नहीं होता।

असमसमो – उस समान अन्य कोई नहीं होते हुए भी जो भूतकाल में सम्यक संबुद्ध हुए या भविष्य में सम्यक संबुद्ध होंगे, वह उनके समान होता है।

द्विपदानं अग्गो – द्विपदीय प्राणियों में अर्थात देव-मनुष्यों में अग्र होता है।

कतमो एकपुग्गलो – कौन होता है ऐसा एक व्यक्ति?

तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो – जो तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध है।

(अ० नि० १.१.१७४, एकपुग्गलवग्ग)

एकपुग्गलो, भिक्खवे, लोके उप्पज्जमानो उप्पज्जति अच्छरियमनुस्सो।

– भिक्षुओ, संसार में एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न होता है, जो आश्चर्यजनक मनुष्य होता है।

कतमो एकपुग्गलो? – कौन होता है ऐसा एक व्यक्ति?

तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो – जो तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध होता है।

(अ० नि० १.१.१७२, एकपुग्गलवग्ग)

ऐसा व्यक्ति क्यों आश्चर्यजनक होता है? क्यों लाजवाब होता है? क्यों असदृश होता है?

क्योंकि–

अयं खो, भिक्खवे, एकपुग्गलो लोके उप्पज्जमानो उप्पज्जति बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।

(अ० नि० १.१.१७०, एकपुग्गलवग्ग)

– भिक्षुओ, संसार में एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न होता है, जो बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, संसार पर अनुकंपा करते हुए, देव-मनुष्यों के अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए उत्पन्न होता है।

तथागत अनूठे हैं, असाधारण हैं, असामान्य हैं। सामान्य-साधारण लोगों जैसे नहीं हैं।

सदेवके लोके, चुन्द, समारके सब्रह्मके सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय तथागतो अभिभू अनभिभूतो अञ्ञदत्थुदसो वसवत्ती।

– हे चुंद, देवताओं, ब्रह्माओं और मार सहित इन सारे लोकों में देव, मनुष्य, श्रमण, ब्राह्मण सहित सारी प्रजा में तथागत विजेता हैं, अपराजित हैं, परम सत्यदर्शी हैं, प्रभावशाली हैं, शक्तिशाली हैं।

तस्मा 'तथागतो'ति वुच्चति – इसीलिए तथागत कहलाते हैं।

(दी० नि० ३.१८८, पासादिकसुत्त)

अनुत्तर हैं इसीलिए परम पूजनीय हैं। मनुष्य ही नहीं, देव-गंधर्व भी उनकी पूजा करते हैं।

देवा मनुस्सासुरसक्करक्खसा, गन्धब्बनागा विहगा चतुप्पदा, अनुत्तरं देवमनुस्सपूजितं। (दी० नि० ३.२०५, लक्खणसुत्त)

– देव, मनुष्य, असुर, शक्र, राक्षस, गंधर्व, नाग, गरुड़, चतुष्पद आदि उन अनुत्तर की, सर्वश्रेष्ठ की पूजा करते हैं।

स्पष्ट है कि उस समय के देवराज इंद्र ने पूर्वकाल के सम्यक संबुद्धों को नहीं देखा था। इसीलिए उसने यह घोषणा की–

एवं बहुजनहिताय पटिपन्नं बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं इमिनापङ्गेन समन्नागतं सत्थारं नेव अतीतंसे समनुपस्साम, न पनेतरहि अञ्ञत्र तेन भगवता। (दी० नि० २.२९६, महागोविन्दसुत्त)

– इस प्रकार बहुजन के हित-सुख के लिए प्रतिपन्न, लोक पर अनुकंपा करने के लिए, देव-मनुष्यों के अर्थ, हित, सुख के लिए इन अंगों से, गुणों से युक्त भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी शास्ता को न हमने पहले कभी देखा था और न आज देखते हैं।

भगवान ने सम्यक संबोधि प्राप्त कर जो धर्मचक्र प्रवर्तन किया, वैसा इस काल में अन्य कोई न कर पाया, इसलिए भी वे अनुत्तर कहलाए। इसीलिए कहा गया–

एस सो भगवा बुद्धो, एस सीहो अनुत्तरो।
सदेवकस्स लोकस्स, ब्रह्मचक्कं पवत्तयी॥

– ऐसे हैं भगवान बुद्ध, ऐसे हैं अनुत्तर सिंह, जिन्होंने देव मनुष्यों के लोक में ब्रह्मचक्र प्रवर्तन किया।

इसी कारण लोकपूज्य हुए, लोकवंद्य हुए।

इति हेतं नमस्सन्ति, महन्तं वीतसारदं।
सदेवकस्मिं लोकस्मिं, नत्थि मे पटिपुग्गलो॥

(अ० नि० १.४.२३, लोकसुत्त)

– इसीलिए लोक में मनुष्यों और देवों द्वारा पूजे जाते हैं, क्योंकि वे महान हैं, निर्भय हैं; उन जैसा कोई प्रतिपुद्गल नहीं है अर्थात कोई अन्य प्राणी नहीं है।

उनके-से गुण अन्यत्र दुर्लभ हैं, इस कारण वे अनुत्तर हैं।

मग्गामग्गस्स कुसलो, कतकिच्चो अनासवो।
बुद्धो अन्तिमसारीरो, महापञ्ञो महापुरिसोति वुच्चति॥

(अ० नि० १.४.३५, वस्सकारसुत्त)

– मार्ग और अमार्ग के ज्ञान में वे कुशल हैं, कृतकृत्य हैं, अनास्रव हैं। बुद्ध अंतिम शरीरधारी हैं, महाप्रज्ञ हैं। इसीलिए महापुरुष कहलाते हैं।

अन्यान्य संप्रदायों के लोग भी जब भगवान के पास प्रश्न पूछने आते थे, तो अत्यंत श्रद्धा-विभोर होकर कहते थे –

न चत्थि तुल्यो निपुणत्थदस्सी, तुवञ्हि बुद्धं पवरं वदन्ति।

(सु० नि० ३७९, धम्मिकसुत्त)

– आपके समान निपुण अर्थदर्शी कोई नहीं है। लोग आपको ही उत्तम बुद्ध बताते हैं।

ये केचिमे ब्राह्मणा वादसीला, वुद्धा चापि ब्राह्मणा सन्ति केचि।
सब्बे तयि अत्थबद्धा भवन्ति, ये चापि अञ्ञे वादिनो मञ्ञमाना॥

(सु० नि० ३८४, धम्मिकसुत्त)

– जितने भी वाद-विवादी ब्राह्मण हैं, जिनमें कुछ अनुभवी वृद्ध ब्राह्मण भी हैं तथा वाद-विवादी माने जाने वाले अन्य लोग भी हैं, वे सब (आपसे वार्तालाप करके) अर्थबद्ध यानी अर्थलाभी, कल्याणलाभी हो जाते हैं।

'उत्तर' का एक और अर्थ होता है – बेहतर यानी श्रेष्ठतर। अतः अनुत्तर का अर्थ हुआ – जिससे बेहतर यानी श्रेष्ठतर कोई नहीं हो। जो सर्वोत्तम है, सर्वश्रेष्ठ है।

जिसके समकक्ष ही कोई दूसरा नहीं, उससे बढ़कर कौन होगा भला!

भगवान ने ठीक ही कहा –

इमायपि खो अहं, चुन्द, पञ्ञत्तिया नेव अत्तना समसमं समनुपस्सामि।

– इस प्रज्ञापन में मैं किसी को अपने समान भी नहीं देखता।

कुतो भिय्यो – बढ़ कर कहां से होगा? (दी० नि० ३.१९२, पासादिकसुत्त)

इस अर्थ में भगवान अनुत्तर हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली जो सर्वोत्तम है, सर्वश्रेष्ठ है।

जैसे कोई अनेक मंजिलों वाली महाअट्टालिका हो, जो अन्य सभी अट्टालिकाओं से ऊंची हो; उससे ऊंची कोई अन्य अट्टालिका न हो; इस अट्टालिका की एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ कोई व्यक्ति सबसे ऊंची मंजिल तक पहुँच जाय। फिर उसे भी पार कर अट्टालिका की छत पर चढ़ जाय। यह छत 'अनुत्तर' है। इसके ऊपर अन्य कोई मंजिल नहीं, कोई छत नहीं। इस अनुत्तर अवस्था तक पहुँचा हुआ व्यक्ति 'अनुत्तर' ही कहलाता है।

जैसे कोई हिमालय पर चढ़े; एक शिखर से आगे दूसरे पर, यों उत्तरोत्तर एक से एक ऊंचे शिखर पर चढ़ता हुआ एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ जाय। अब इससे ऊंचा कोई शिखर नहीं। यही सर्वोच्च शिखर है, अतः 'अनुत्तर' है। उस शिखर तक पहुँचा हुआ व्यक्ति अनुत्तर कहलाता है।

ऐसे ही लौकिक क्षेत्र में एक से एक ऊंचे लोक तक पहुँचता हुआ कोई व्यक्ति सबसे ऊंचे लोक यानी लोकाग्र तक पहुँच जाय और उसका भी अतिक्रमण कर उससे परे लोकोत्तर अवस्था को प्राप्त कर ले। यह अवस्था 'अनुत्तर' है यानी इसके आगे और कोई अवस्था नहीं है। अतः इस लोकोत्तर अवस्था तक पहुँचा हुआ व्यक्ति 'अनुत्तर' ही कहलाता है।

एक युग था जो अध्यात्मिक अन्वेषण का शैशव काल था। उस समय का मानव इस मनुष्यलोक को मर्त्य मानता था, क्योंकि यहां प्रत्यक्षतः प्राणी जन्म लेकर मरते हुए देखे जाते थे, परंतु इससे ऊपर के देवलोक को अमर मानता था। उस काल में 'नरामर' जैसे शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य था। यह भ्रांति इस कारण हुई कि मनुष्यों की अपेक्षा देवों की आयु बहुत दीर्घ होती है। आगे चल कर अध्यात्मिक अन्वेषण में प्रगति हुई और ध्यान करने वालों ने जाना कि चातुर्महाराजिक और तावतिंसलोक ही नहीं बल्कि उनके ऊपर के सारे देवलोक मर्त्य हैं। छह के छहो देवलोकों के देवता मरणधर्मा हैं, यद्यपि मनुष्य की तुलना में उनकी आयु उत्तरोत्तर दीर्घ होती जाती है। तदनंतर चार ध्यान करने वालों ने जब ब्रह्मलोक के ब्रह्मा को जाना तब उसे अमर मान लिया और ब्रह्मलोक को भी अमर मान लिया। यह मिथ्या धारणा भी बहुत लंबे समय तक चली। आगे चल कर जब कुछ लोगों ने आठ ध्यान समापत्तियों की उत्तरोत्तर ऊंची अवस्थाएं प्राप्त कीं तब सोलह रूप ब्रह्मलोकों को भी मर्त्य मानते हुए उनसे ऊपर के चार अरूप ब्रह्मलोकों को भवाग्र होने के कारण अमर माना और इन लोकों के अरूप ब्रह्माओं को भव-संसरण से मुक्त मान कर अमर स्वीकार किया।

परंतु जिस व्यक्ति को सम्यक संबोधि प्राप्त हुई उसने जान लिया कि चारो अरूप ब्रह्म-लोक भी मर्त्य हैं, क्योंकि उसने इनसे भी आगे की अवस्था प्राप्त कर ली, जहां भवाग्रसहित सारा लौकिक क्षेत्र समाप्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अनुभव से जान गया कि अरूप ब्रह्मलोक तक का सारा लौकिक क्षेत्र उत्पाद-व्यय स्वभाववाला है और उससे परे का निर्वाणिक क्षेत्र ऐसे स्वभाववाला है जिसमें न कुछ उत्पन्न होता है न व्यय होता है। वह सदा एकरस बना रहता है। अतः सही माने में वही अमृत है, जन्म मरण से परे है। इस अनुत्तर अवस्था तक पहुँचा हुआ व्यक्ति स्वयं अनुत्तर बन जाता है, क्योंकि निर्वाणिक क्षेत्र के ऊपर अन्य कोई अवस्था नहीं है। इसलिए इसके ऊपर की अवस्था तक पहुँचने वाला कोई व्यक्ति नहीं होता।

अध्यात्म की यात्रा करते हुए जिस-जिस भूमि तक लोग पहुँचे, उसके बारे में भगवान ने कहा–

तञ्च तथागतो पजानाति – तथागत उसे जानते हैं।

ततो च उत्तरितरं पजानाति – उससे आगे की भूमियां भी जानते हैं।

तञ्च पजाननं न परामसति – अपनी इस जानकारी के प्रति वे आसक्त नहीं होते।

यदि आसक्त हो जाते तो उस अवस्था से चिपकाव पैदा कर लेते तथा औरों की भांति वे भी उस मील के पत्थर के पास टिके रह जाते, बीच की धर्मशाला में रुके रह जाते; आगे न बढ़ पाते। परंतु उन्होंने चिपकाव पैदा नहीं किया। उसके भी अनित्य स्वभाव को अनुभूतियों से जानते हुए आगे बढ़ते गये।

भवाग्र तक का सारा लौकिक क्षेत्र वेदनाओं का क्षेत्र है। ये वेदनाएं कितनी भी सूक्ष्म और सुखद क्यों न हों; तथागत उनके प्रति आसक्त नहीं होते। इसलिए इनके आगे निकल जाते हैं।

अपरामसतो चस्स पच्चत्तञ्ञेव निब्बुति विदिता।

– आसक्त न होते हुए अपने भीतर वेदनाओं के शांत होने को जान लेते हैं यानी उनके परे की अवस्था को जान लेते हैं।

वेदनानं समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च अस्सादञ्च आदीनवञ्च निस्सरणञ्च यथाभूतं विदित्वा अनुपादा विमुत्तो, भिक्खवे, तथागतो।

(दी० नि० १.३६, ब्रह्मजालसुत्त)

– वेदनाओं के उदय और व्यय को यथाभूत जानते हुए, उनका जो रसास्वादन होने लगता है, उसे यथाभूत जान लेते हैं। इस रसास्वादन के दुष्परिणाम को, आदीनव को यथाभूत जान लेते हैं। इनसे बाहर निकलने को यानी निस्सरण को यथाभूत जान लेते हैं और उसे जान कर अनासक्त हुए तथागत विमुक्त हो जाते हैं।

सारी वेदनाओं का क्षेत्र अर्थात सारा लौकिक क्षेत्र, सारा नाम और रूप का क्षेत्र, छहो इंद्रियों का क्षेत्र है। यह समुदय-व्यय धर्मा है, इसका यही स्वभाव है। परंतु इस क्षेत्र के परे की अवस्था का धर्म, स्वभाव इससे सर्वथा भिन्न है। वह नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, अमृत है।

इमे खो ते, भिक्खवे, धम्मा – भिक्षुओ, इंद्रियातीत, लोकातीत निर्वाणिक अवस्था के ये धर्म–

गम्भीरा – गंभीर हैं,

दुद्दसा – दुर्दर्शनीय है, कठिनाई से दर्शन कर सकने योग्य हैं,

दुरनुबोधा – कठिनाई से अनुबोध हो सकने योग्य हैं,

सन्ता – शांत हैं,

पणीता – प्रणीत हैं,

अतक्कावचरा – बुद्धि के स्तर पर तर्क- वितर्क के सहारे जान सकने योग्य नहीं हैं,

निपुणा – सूक्ष्म हैं और

पण्डितवेदनीया – किसी पंडित द्वारा ही अनुभूति के स्तर पर जाने जा सकने योग्य हैं।

आज की हिंदी में शास्त्रों के जानकार को पंडित कहने लगे। उन दिनों की भाषा में पंडित का यह अर्थ नहीं होता था। 'पंडित' समझदार व्यक्ति को कहते थे। नासमझ लोगों के लिए इन धर्मों को अनुभव के स्तर पर जान लेना असंभव है।

ये तथागतो सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति।

(दी० नि० १.१०४, ब्रह्मजालसुत्त)

– इन्हें तथागत अभिज्ञान द्वारा स्वयं साक्षात्कार करके कहते हैं।

यह नित्य, शाश्वत, ध्रुव, सर्वोत्तम निर्वाणिक अवस्था है। इसलिए अनुत्तर है। इस अनुत्तर का साक्षात्कार करने वाले तथागत भी इसी कारण अनुत्तर हैं।

जो शील-सदाचार का पालन करके कामलोक की देव-भूमियों में जन्मता है और उसे अमर मान लेता है यानी अंतिम अवस्था मान लेता है, उसके लिए देवलोक ही अनुत्तर है। वह वास्तविक अनुत्तर अवस्था को नहीं जान पाता।

जो चारों ध्यानों का और चारों ब्रह्मविहारों का अभ्यास कर रूप ब्रह्मलोक में जन्मता है, वह उसे ही अनुत्तर अमर अवस्था मान लेता है। वह भी वास्तविक अनुत्तर अवस्था को नहीं जान पाता। जो पांचवीं से आठवीं ध्यान समापत्तियों का अभ्यास कर अरूप ब्रह्मलोक में जन्मता है और उस भवाग्र अवस्था को अनुत्तर अमर मान लेता है, वह भी वास्तविक अनुत्तर अवस्था को नहीं जान पाता।

परंतु जो व्यक्ति आठ ध्यानों के परे **सञ्ञा-वेदयित-निरोध समापत्ति** का अभ्यास कर लेता है, जहां इंद्रिय जगत की वेदना यानी अनुभूति और उसकी संज्ञा यानी जानकारी निरुद्ध हो जाती है; उस इंद्रियातीत लोकातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है, जो सचमुच नित्य, शाश्वत, ध्रुव है; वह व्यक्ति वस्तुतः अनुत्तर अवस्था का अनुबोध कर लेता है। ऐसा अनुबोध करने वाला ही सही माने में अनुत्तर कहलाता है। किसी भी लौकिक क्षेत्र को अंतिम लक्ष्य मान लेने वाले संप्रदायवादी दार्शनिक इस लोकोत्तर अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते। अतः उनका भव-भ्रमण बना ही रहता है।

उन दिनों काम-भूमि के देवलोकों को नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमर मानने वाले बहुत लोग नहीं रह गये थे, परंतु रूप और अरूप ब्रह्मलोकों को नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमर मानते हुए उनमें उलझ कर अटके रह जाने वाले बहुत लोग थे। भगवान ने इन सभी लोकों के आगे की अनुभूति की और वहां तक पहुँचने के लिए अन्य लोगों के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने समझाया–

तिस्सो इमा, भिक्खवे, धातुयो – भिक्षुओ, ये तीन धातु हैं।

धातु माने स्वभाव, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का धर्म-स्वभाव।

कतमा तिस्सो – कौन-सी तीन?

रूपधातु, अरूपधातु, निरोधधातु – यानी रूप ब्रह्मलोक की अवस्था का धर्म-स्वभाव, अरूप ब्रह्मलोक की अवस्था का धर्म-स्वभाव और निरोध यानी निर्वाणिक अवस्था का धर्म-स्वभाव।

और फिर कहा–

रूपधातुं परिञ्ञाय – अर्थात रूप ब्रह्मलोक के स्वभाव का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करके, यानी उसकी संपूर्ण परिधि को जान कर, उससे आगे निकल कर,

अरूपेसु असण्ठिता – अरूप ब्रह्मलोक में बिना अटके, बिना स्थित हुए यानी उससे भी आगे बढ़ कर,

निरोधे ये विमुच्चन्ति – निरोध यानी निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर, जो लोग विमुक्त हो गये,

ते जना मच्चुहायिनो – वे लोग मृत्यु के क्षेत्र को समाप्त कर चुके हैं यानी जन्म-मरण के बंधन से छूट चुके हैं।

तथागत ने स्वयं भी यही किया। तभी कहा गया–

कायेन अमतं धातुं, फुसयित्वा निरूपधिं।

– अपनी काया के भीतर भव-भ्रमण को उच्छिन्न कर देने वाली अमृत अवस्था का स्पर्श करके,

उपधिप्पटिनिस्सग्गं, सच्छिकत्वा अनासवो।

– जन्म-मरण के बंधन से बाहर निकलने की अवस्था का साक्षात्कार करके अनास्रव होकर,

देसेति सम्मासम्बुद्धो, असोकं विरजं पदं। (इतिवु० ५१, धातुसुत्त)

– सम्यक संबुद्ध अशोक, विरज, विमल, परम पद की देशना देते हैं।

इसीलिए भगवान अनुत्तर हैं, क्योंकि उस युग में उनके पहले इस अवस्था तक कोई नहीं पहुँच पाया था। वहां तक पहुँचने के मार्ग की देशना कोई क्या देता भला! वे सभी लोग जो देवलोक से ऊपर उठे, वे या तो रूप ब्रह्मलोक में अटके रह गये अथवा वहुत हुआ तो अरूप ब्रह्मलोक में जा अटके। इन लौकिक क्षेत्रों का अपना स्वभाव है, अपनी धातु है जो निरोध, निर्वाण के स्वभाव से, उसकी धातु से सर्वथा भिन्न है। लौकिक क्षेत्र की व्याख्या की जा सकती है, जबकि इंद्रियातीत निर्वाण-अवस्था व्याख्या के परे है, अनिर्वचनीय है।

अक्खेय्यसञ्ञिनो सत्ता, अक्खेय्यस्मिं पतिट्ठिता।
अक्खेय्यं अपरिञ्ञाय, योगमायन्ति मच्चुनो॥

(इतिवु० ६३, अद्धासुत्त)

– जो लौकिक, आख्येय (आख्यातव्य) क्षेत्र की संज्ञा वाले लोग हैं, वे उस आख्येय क्षेत्र में ही प्रतिष्ठित हैं, वे उस आख्यातव्य क्षेत्र का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सकने के कारण मृत्यु के बंधन में जकड़े रहते हैं।

सारा लौकिक क्षेत्र **अक्खेय्य** आख्येय अर्थात वचनीय है। लौकिक क्षेत्र तो लौकिक क्षेत्र ही है। लोकधर्मा यानी अनित्यधर्मा है। चाहे अरूप ब्रह्मलोक ही क्यों न हो। जिन लोगों ने इसका अतिक्रमण करके, इसके परे अनिर्वचनीय निर्वाण का साक्षात्कार नहीं कर लिया, वे मृत्यु के क्षेत्र से बाहर नहीं निकल पाये।

रूप ब्रह्मलोक की अवस्था बहुत शांत है, परंतु अरूप ब्रह्मलोक की अवस्था उससे अधिक शांत है। निरोध, निर्वाण की अवस्था तो उन दोनों से शांततर है।

रूपेहि, भिक्खवे, अरूपा सन्ततरा, अरूपेहि निरोधो सन्ततरो।

– भिक्षुओ, रूप लोक से अरूप लोक शांततर है, अरूप से लोकोत्तर निरोध यानी निर्वाण शांततर है।

रूप और अरूपलोक की महती शांति सामान्यतया सभी साधकों को बांध लेती है। वे उससे आगे नहीं निकल पाते, निकलने का प्रयत्न भी नहीं करते। अतः रूप और अरूपलोक के आगे की कहीं अधिक शांति से वे वंचित रह जाते हैं और भवचक्र में पिसते रहते हैं।

ये च रूपूपगा सत्ता, ये च अरूपट्ठायिनो।

– वे लोग जो रूप ब्रह्मलोक में उत्पन्न हैं और वे जो अरूप ब्रह्मलोक में स्थित हैं,

निरोधं अप्पजानन्ता – वे निरोध अर्थात निर्वाण को नहीं जानते हुए,

आगन्तारो पुनब्भवं – पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं।

(इतिवु० ७३, सन्ततरसुत्त)

इससे आगे की निर्वाणिक अवस्था –

सन्तिपदमनुत्तरं – शांति-पद की अनुत्तर अवस्था है।

(इतिवु० ६३, अद्धासुत्त)

यही सर्वोच्च अवस्था है, सर्वोत्तम अवस्था है। ऐसी अवस्था का साक्षात्कार करने वाले तथागत इसी अर्थ में अनुत्तर हैं।

यह निर्वाणिक शून्यता की अवस्था परम परिशुद्ध है, अनुत्तर है।

इसी को लक्ष्य करके भगवान ने आनंद को उद्‍बोधित करते हुए कहा था –

तस्मातिह, आनन्द, परिसुद्धं परमानुत्तरं सुञ्ञतं उपसम्पज्ज विहरिस्सामाति।

– इसलिए, आनंद, परिशुद्ध परम अनुत्तर शून्यता को प्राप्त कर विहरूंगा,

एवं हि वो, आनन्द, सिक्खितब्बं – आनंद, यह तुम्हें सीखना चाहिये।

(म० नि० ३.१८४, चूळसुञ्ञतसुत्त)

अनिर्वचनीय

निर्वाण अनुत्तर है और अनिर्वचनीय है। उसकी व्याख्या कोई कैसे करे? निर्वाण की अवस्था निरोध की अवस्था है जहां नाम और रूप दोनों निरुद्ध हो जाते हैं, जहां छहो इंद्रियां निरुद्ध हो जाती हैं। यह इंद्रियातीत अवस्था है। उसकी अनुभूति इंद्रियों द्वारा नहीं की जाती। अतः इंद्रियों के माध्यम से उसे कोई कैसे व्यक्त कर सके भला! तीन डाइमेंशन यानी तीन आयामों के क्षेत्र का अनुभव करने वाला व्यक्ति यदि चौथे आयाम की अनुभूति कर आये, तो उसे कैसे समझाये और समझने की चेष्टा करने वाले भी उसे कैसे समझें?

सभी लौकिक क्षेत्र **अक्खेय्य** है। ये आख्यात किये जा सकते हैं, परंतु निर्वाण **अनक्खेय्य** है। उसे आख्यात नहीं किया जा सकता। कामभव-लोक के जितने प्राणी हैं, उनके ठोस या सूक्ष्म भौतिक शरीर हैं। उनकी छः इंद्रियां हैं। रूप ब्रह्मलोक के जितने प्राणी हैं, उनका अति सूक्ष्म, वायव्य भौतिक शरीर है। उनके आंख, कान और मन – केवल तीन इंद्रियां हैं। जो अरूप ब्रह्मलोक के प्राणी हैं, उनका कोई भौतिक शरीर नहीं है। अतः उनके आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा – ये पांचों इंद्रियां नहीं हैं। वे केवल मनोमय हैं। मन ही उनकी एकमात्र इंद्रिय है। इन सभी लोकों की और इनके निवासियों की व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि इन क्षेत्रों में कोई न कोई इंद्रिय काम करती है। परंतु निर्वाणिक अवस्था में न भौतिक पदार्थ हैं, न छः इंद्रियां हैं और न ही मन है। अतः इसकी सही व्याख्या हो सकनी असंभव है। कोई व्याख्या होती भी है तो नकारात्मक ही होती है जैसे –

यत्थ आपो च पथवी, तेजो वायो न गाधति,

– जहां जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नहीं टिक पाते,

न तत्थ सुक्का जोतन्ति, आदिच्चो नप्पकासति,

– जहां न तारे चमकते हैं और न सूर्य प्रकाशित होता है,

न तत्थ चन्दिमा भाति, तमो तत्थ न विज्जति। (उदा० १०, बाहियसुत्त)

– न वहां चांद उगता है, फिर भी वहां अंधकार नहीं रहता।

नकारात्मक ही नकारात्मक!

– भिक्षुओ, एक ऐसा क्षेत्र है जहां न पृथ्वी है, न जल, न तेज, न वायु, न **आकासानञ्चायतन**, न **विञ्ञानञ्चायतन**, न **आकिञ्चञ्ञायतन**, न **नेवसञ्ञानासञ्ञायतन** । वहां न तो यह लोक है और न परलोक और न ही दोनों। जहां न चांद है, न सूरज। भिक्षुओ, न मैं उसे अगति कहता हूं, न गति। न स्थिति कहता हूं, न च्युति। मैं उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूं। न वह प्रतिष्ठित है, न परिवर्तनशील है, न अवलंबित है।

एसेवन्तो दुक्खस्साति। (उदा० ७१, पठमनिब्बानपटिसंयुत्तसुत्त)

– वह ऐसा है, जिसमें दुःखों का अंत है यानी जिसमें दुःख नहीं है।

जहां वस्तुतः दुःखों का अंत है, वहां अहंभाव, आत्मभाव नहीं टिक सकता।

दुद्दसं अनत्तं नाम - यह अनात्म अवस्था दुर्दर्शनीय है।

न हि सच्चं सुदस्सनं - (उस) सत्य का दर्शन सरल नहीं है।

(उदा० ७२, दुतियनिब्बानपटिसंयुत्तसुत्त)

पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तो अरूप ब्रह्मलोक में भी नहीं हैं, परंतु वहां नाम यानी चित्त यानी विज्ञान विद्यमान रहता है। लेकिन निर्वाणिक अवस्था में नाम का ही नहीं, प्रतिसंधि विज्ञान का भी निरोध हो जाता है।

विञ्ञाणस्स निरोधेन, एत्थेतं उपरुज्झति।

(सु० नि० १०४३, अजितमाणवपुच्छा)

- यहां (प्रतिसंधि) विज्ञान का निरोध हो जाता है। वह यहां अवरोध को प्राप्त हो जाता है।

अतः यह क्षेत्र नाम, रूप और प्रतिसंधि विज्ञान के क्षेत्र से परे है।

प्रतिसंधि विज्ञान के क्षेत्र में प्राणी का जन्म होता है अतः वह जात है। प्राणी उत्पन्न होता है अतः भूत है। कुछ किया जाता है अतः कृत है। कुछ बनता है अतः संस्कृत है। परंतु नकारात्मक विवेचन वाला यह निर्वाण तो-

अजातं अभूतं अकतं असङ्खतं है, यानी अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है।

(इतिवु० ४३, अजातसुत्त)

यह वह अवस्था है, जहां रूप ब्रह्मलोक के नाम और रूप यानी चित्त और भौतिक पदार्थ तो नहीं ही हैं, अरूप ब्रह्मलोक का नाम यानी चित्त भी नहीं है।

एत्थ नामञ्च रूपञ्च, असेसं उपरुज्झति - जहां नाम और रूप पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं।

यह अरहंत के मार्ग-फलवाला निर्वाण है, जिसकी उपलब्धि होने पर पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है; अतः प्रतिसंधि विज्ञान भी समाप्त हो जाता है।

इसीलिए कहा गया-

विञ्ञाणं अनिदस्सनं - जहां विज्ञान का भी नामोनिशान नहीं है।

इतने नकारात्मक विशेषणों के बीच हम एक सकारात्मक विशेषण देखते हैं कि यह-

सब्बतो पभं - सर्वथा प्रभायुक्त है, सर्वथा प्रकाशमान है।

(दी० नि० १.४९९, केवट्टसुत्त)

ऐसे ही और नकारात्मक विशेषणों की शृंखला है-

अजातं असमुप्पन्नं, असोकं विरजं पदं - अजात है, अनुत्पन्न है, अशोक है, विरज है अर्थात विमल है।

निरोधो दुक्खधम्मानं सङ्खारूपसमो सुखो। (इतिवु० ४३, अजातसुत्त)

- सारे दुःखों की निरोध-अवस्था है, सारे संस्कारों के उपशमन की अवस्था है।

और फिर एक सकारात्मक विशेषण दीख पड़ता है कि सुख है।

निब्बानं परमं सुखं - निर्वाण परम सुख है।

(ध० प० २०३-२०४, सुखवग्ग)

सुख तो निम्न भूमि के काम-भोग में भी है। सुख रूप और अरूप ब्रह्मलोक में भी है, परंतु यह निर्वाण का सुख परम सुख है। उनसे इसका कोई मुकाबला नहीं, कोई तुलना नहीं।

निब्बानसुखा परं नत्थि - निर्वाण से परे कोई सुख नहीं।

भाषा के पास भिन्न-भिन्न प्रकार के सुखों की व्याख्या कर सकने वाले भिन्न- भिन्न शब्द नहीं हैं। अतः केवल इतना ही समझा जा सकता है कि किसी भी लौकिक सुख से निर्वाण के सुख की तुलना नहीं की जा सकती।

नत्थि सन्तिपरं सुखं - निर्वाण की शांति से बढ़ कर अन्य कोई सुख नहीं। (ध० प० २०२, सुखवग्ग)

रूप ब्रह्मलोक में भी शांति है। अरूप ब्रह्मलोक में उससे कहीं अधिक शांति है, परंतु निर्वाण की शांति की कोई तुलना नहीं। भिन्न-भिन्न प्रकार और प्रमाण की शांति को विज्ञप्त कर सकने के लिए भाषा के पास भिन्न-

भिन्न शब्दों का अभाव है। निर्वाणिक शांति के लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है–

एतं सन्तं, एतं पणीतं – यह शांत है, श्रेष्ठ है।

यदिदं सब्बसङ्खारसमथो – यह जो सारे संस्कारों का शमन है,

सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो – यह जो भव-भ्रमण की आसक्ति का परित्याग है,

तण्हक्खयो – तृष्णा का क्षय है,

विरागो – वीतरागता है,

निरोधो – निरोध है,

निब्बानं – यही निर्वाण है, (म० नि० २.१३३, महामालुक्यसुत्त)

यही परम अमृत पद है। राग, द्वेष, मोह का नितांत क्षय है।

यो खो, भिक्खु, रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – इदं वुच्चति अमतं।

(सं० नि० ३.५.७, दुतियअञ्ञतरभिक्खुसुत्त)

– हे भिक्षु, यह जो रागक्षय है, द्वेषक्षय है, मोहक्षय है - यही अमृत कहलाता है।

उस निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार किये बिना राग, द्वेष और मोह का निःशेष क्षय नहीं होता। अतः यह निर्वाणिक अवस्था सारी लौकिक अवस्थाओं से अलग है, अनूठी है, विशिष्ट है, अतुलनीय है, परम है। इसी माने में अनुत्तर है। जो इस अवस्था को प्राप्त करे, वह भी इसी कारण अनुत्तर है।

किसी सम्यक संबुद्ध के आदेशों पर चल कर इस अनुत्तर निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार अन्य लोग भी करते हैं, परंतु सही माने में अनुत्तर वह है, जो बिना किसी मार्गदर्शक के स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा इस अवस्था को प्राप्त करता है। जो पहले पहल प्राप्त करता है, वह अगुआ है। बाकी लोग उसके पीछे चलने वाले होते हैं।

जैसे किसी मुर्गी के आठ, दस या बारह अंडे हों। उस मुर्गी ने उनको भली-भांति सेया हो, प्रभावित किया हो, गरमाया हो। मुर्गी का जो चूज़ा

किसी अंडे को अपने पैरों के नाखून से या चोंच से फोड़ कर औरों से पहले सकुशल बाहर निकल आता है, वही ज्येष्ठ कहलाता है।

एवमेवं खो अहं, ब्राह्मण, अविज्जागताय पजाय अण्डभूताय परियोनद्धाय अविज्जण्डकोसं पदालेत्वा एकोव लोके अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धो।

– हे ब्राह्मण, इसी प्रकार अंडे के समान अविद्या से घिरी हुई जनता में से अविद्या रूपी अंडे को फोड़ कर अकेले मैंने ही (पहले पहल) अनुत्तर सम्यक संबोधि प्राप्त की। इसलिए–

अहं हि, ब्राह्मण, जेट्ठो सेट्ठो लोकस्स – हे ब्राह्मण, इस संसार में मैं ही ज्येष्ठ हूं, श्रेष्ठ हूं। (अ० नि० ३.८.११, वेरञ्जसुत्त)

सम्यक संबुद्ध ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, इसलिए लोक में अग्र कहलाते हैं। इसीलिए कहा गया–

यावता, चुन्दी, सत्ता अपदा वा द्विपदा वा, चतुप्पदा वा बहुप्पदा वा,

हे चुंदी, जितने भी प्राणी अपद हैं या द्विपद हैं या चतुष्पद हैं या बहुपद हैं,

रूपिनो वा अरूपिनो वा... – रूप ब्रह्मलोक के हैं या अरूप ब्रह्मलोक के हैं...,

तथागतो तेसं अग्गमक्खायति अरहं सम्मासम्बुद्धो,

(अ० नि० २.५.३२, चुन्दीसुत्त)

– तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध उनमें अग्र कहलाते हैं,

क्योंकि उस युग में इस अवस्था तक उनसे पहले अन्य कोई व्यक्ति नहीं पहुँचा था।

उद्धं तिरियं अपाचीनं, यावता जगतो गति।
सदेवकस्स लोकस्स, बुद्धो अग्गो पवुच्चति॥

(अ० नि० १.४.१५, पञ्ञत्तिसुत्त)

– ऊपर, बीच में अथवा नीचे जहां तक जगत की गति है, उस सदेवलोक में बुद्ध ही अग्र कहलाते हैं।

जैसे कि भिक्षुओ, गाय से दूध होता है, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी, घी से परिशोधित घी। उनमें परिशोधित घी ही सबसे श्रेष्ठ कहलाता है। इसी प्रकार भिक्षुओ, जो आत्महित और परहित में लगा रहता है वह –

अग्गो च सेट्ठो च पामोक्खो च उत्तमो च पवरो च।

(अ० नि० १.४.९५, छवालातसुत्त)

– अग्र है, श्रेष्ठ है, प्रमुख है, उत्तम है, प्रवर है।

सम्यक संबुद्ध बनने के पश्चात तो कहना ही क्या? बोधिसत्त्व की असंख्य कल्पों की लंबी भव-यात्रा में वे हर जन्म आत्महित और परहित में ही लगे रहे। तीसों पारमिताएं आवश्यक मात्रा में परिपूर्ण करके सिद्धार्थ गौतम के रूप में अंतिम जन्म ग्रहण करने पर उन्होंने यह गंभीर घोषणा की –

अग्गोहमस्मि लोकस्स – मैं लोक में अग्र हूं।

जेट्ठोहमस्मि लोकस्स – मैं लोक में ज्येष्ठ हूं।

सेट्ठोहमस्मि लोकस्स – मैं लोक में श्रेष्ठ हूं।

क्योंकि –

अयमन्तिमा जाति – यह अंतिम जन्म है।

नत्थिदानि पुनब्भवोति – मेरा अब पुनर्जन्म नहीं होगा।

(दी० नि० २.३१, महापदानसुत्त)

वही बोधिसत्त्व इसी जीवन में सम्यक संबुद्ध बन कर अनुत्तर धर्मचक्रप्रवर्तन करेंगे और यह अंतिम जीवन पूरा कर महापरिनिर्वाण को प्राप्त हो जायेंगे। उस समय ऐसी अवस्था तक पहुँचा हुआ अन्य कोई व्यक्ति नहीं था। तभी बोधिसत्त्व ने अपने अंतिम जीवन के आरंभ में यह सिंह गर्जना जैसी घोषणा की। उनके बारे में अन्य समझदार लोगों ने भी ऐसी ही घोषणा की थी।

उनके जन्म पर देवताओं ने ऋषि कालदेवल को कहा था –

सो बोधिसत्तो रतनवरो अतुल्यो, मनुस्सलोके हितसुखत्थाय जातो।

– प्राणियों के हित-सुख के लिए वे रत्न-श्रेष्ठ अतुल्य बोधिसत्त्व मनुष्य लोक में जन्मे हैं।

सो सब्बसत्तुत्तमो अग्गपुग्गलो, नरासभो सब्बपजानमुत्तमो।

– वे सब प्राणियों में उत्तम, अग्रपुद्गल, नरवृषभ तथा सभी लोगों में श्रेष्ठ हैं।

वत्तेस्सति चक्कमिसिव्हये वने, नदंव सीहो बलवा मिगाभिभू।

(सु० नि० ६८८-६८९, नालकसुत्त)

– वह गरजने वाले मृगराज सिंह की भांति ऋषिवन में धर्मचक्र का प्रवर्तन करेंगे।

असित देवल ने भी बोधिसत्त्व को देख कर, उनके शरीर लक्षण परख कर यही कहा था –

अनुत्तरायं द्विपदानमुत्तमो – यह अनुत्तर है, द्विपदों में उत्तम है।

(सु० नि० ६९५, नालकसुत्त)

अनेक युगों पहले जो सम्यक संबुद्ध हुए, वे सभी अपने-अपने युग में अनुत्तर हुए, अग्र हुए क्योंकि उस-उस समय, उन-उन सम्यक संबुद्धों ने खोया हुआ मार्ग खोज कर सर्वप्रथम मुक्त अवस्था प्राप्त की। इस युग में यही काम भगवान गौतम बुद्ध ने किया। एक सम्यक संबुद्ध और दूसरे सम्यक संबुद्ध के बीच बड़ा लंबा अंतराल होता है। इस अंतराल में मुक्ति का मार्ग सर्वथा विलुप्त हो जाता है। इस समय भी यही हुआ। इस विलुप्त हुए मार्ग को बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम ने खोज निकाला और वे अविद्या के अंधकार की खोल को चीर कर विद्या के प्रकाश में आये, सर्वप्रथम विमुक्त हुए, अतः अग्र हुए, अनुत्तर हुए, ज्येष्ठ हुए, श्रेष्ठ हुए।

अग्गो न सो गच्छति जातु खम्भनं, नरुत्तमो एस हि तस्स धम्मता।

(दी० नि० ३.२०३, लक्खणसुत्त)

– उनका भव-भ्रमण रुक गया, इसीलिए वे अग्र हैं। उन नरोत्तम की यही धर्मता है।

भगवान गौतम बुद्ध को जब सम्यक संबोधि प्राप्त हुई, तब उनके मन में यह प्रश्न उठा कि मैं किस वयोवृद्ध संन्यासी की शरण में जाकर शेष जीवन धर्माचरण में बिताऊं? उन दिनों की यह प्रथा थी, यह परंपरा थी कि कम उम्र वाले संन्यासी किसी वयोवृद्ध संन्यासी के प्रति आदरयुक्त होकर, गौरवयुक्त होकर उसके आश्रय में रहते थे। इसी कारण उनके मन में यह चिंतन जागा, परंतु उन्होंने अपने बोधि नेत्रों से देखा तो जाना कि-

न खो पनाहं पस्सामि सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय अञ्ञं समणं वा ब्राह्मणं वा

– देवलोक, मारलोक और ब्रह्मलोक में तथा श्रमण, ब्राह्मण समाज में, देवों और मनुष्यों में मैं अन्य किसी ऐसे श्रमण या ब्राह्मण को नहीं देखता जो –

अत्तना सीलसम्पन्नतरं – मेरी अपेक्षा अधिक शीलसंपन्न हो।

अत्तना समाधिसम्पन्नतरं – मेरी अपेक्षा अधिक समाधि-संपन्न हो।

अत्तना पञ्ञासम्पन्नतरं – मेरी अपेक्षा अधिक प्रज्ञासंपन्न हो।

अत्तना विमुत्तिसम्पन्नतरं – मेरी अपेक्षा अधिक विमुक्तिसंपन्न हो।

यमहं सक्कत्वा गरुं कत्वा उपनिस्साय विहरेय्यं।

– जिसके प्रति आदरयुक्त और गौरवयुक्त होकर मैं उसके आश्रय में रहूं।

एक ही समय दो सम्यक संबुद्ध नहीं होते। अतः उस समय लोक में यही एक अकेले व्यक्ति थे, जो उस अनुत्तर अवस्था को स्वयं प्राप्त हुए थे। इसी माने में अनुत्तर थे।

उम्र में अनेक श्रमण, ब्राह्मण उनसे बड़े थे, परंतु गुणों में नहीं। उम्र में भले न हो, परंतु गुणों में जो बड़ा है, सही माने में वही बड़ा है। भगवान बुद्ध गुणों में बड़े थे, धर्म में बड़े थे। वे अन्य किसका आश्रय लेते? अतः वे इस नतीजे पर पहुँचे कि –

यंनूनाहं य्वायं धम्मो मया अभिसम्बुद्धो, तमेव धम्मं सक्कत्वा गरुं कत्वा उपनिस्साय विहरेय्यं।

– जिस धर्म का मैंने ज्ञान प्राप्त किया है, क्यों न मैं उस धर्म के प्रति गौरवयुक्त होकर, आदरयुक्त होकर उसी के आश्रय में रहूं, विहार करूं।

बुद्ध जैसे अनुत्तर व्यक्ति को कोई अन्य सामान्य व्यक्ति आश्रय नहीं दे सकता। उनके द्वारा स्वयं अनुबोध किया गया अनुत्तर धर्म ही उन्हें आश्रय दे सकता है। यही धर्म-नियामता है, जो सभी सम्यक संबुद्धों पर लागू होती है।

ये च अतीता सम्बुद्धा, ये च बुद्धा अनागता।
यो चेतरहि सम्बुद्धो, बहूनं सोकनासनो॥

– जो भी संबुद्ध भूतकाल में हुए, जो भी संबुद्ध भविष्यकाल में होंगे और जो बहुतों का शोक दूर करने वाले वर्तमान संबुद्ध हैं,

सब्बे सद्धम्मगरुनो, विहंसु विहरन्ति च।
अथोपि विहरिस्सन्ति, एसा बुद्धान धम्मता॥

(अ० नि० १.४.२१, पठमउरुवेलसुत्त)

– वे सभी सद्धर्म का गौरव करने वाले थे, होंगे और हैं। सभी बुद्धों की यही धर्मता होती है, यही स्वभाव होता है।

संबुद्ध को कौन सा धर्म प्राप्त होता है, जिसका वे जीवन भर आश्रय लेते हैं?

बुद्धो समानो किं लभति? – बुद्ध होने पर उन्हें क्या मिलता है? वे क्या हो जाते हैं?

महापञ्ञो होति पुथुपञ्ञो हासपञ्ञो जवनपञ्ञो तिक्खपञ्ञो निब्बेधिकपञ्ञो।

– वे महाप्रज्ञ हो जाते हैं, पृथु-प्रज्ञ, तीव्र-प्रज्ञ, क्षिप्र-प्रज्ञ, तीक्ष्ण-प्रज्ञ, निर्वेधिक- प्रज्ञ हो जाते हैं।

नास्स होति कोचि पञ्ञाय सदिसो वा सेट्ठो वा सब्बसत्तानं।

(दी० नि० ३.२१६, लक्खणसुत्त)

– समस्त प्राणियों में कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा में न उनके समान होता है न उनसे बढ़ कर।

सम्यक संबुद्ध होने पर जो अनुत्तर प्रज्ञा उपलब्ध होती है, वह महापरिनिर्वाण के समय तक बनी रहती है।

येन स्वाहं, भिक्खवे, विहारेन पठमाभिसम्बुद्धो विहरामि, तस्स पदेसेन विहासिं।

(सं० नि० ३.५.११, पठमविहारसुत्त)

– भिक्षुओ, जिस चित्त-अवस्था में मैंने प्रथम बार अभिसंबुद्ध होते हुए विहार किया था, अपने शेष जीवन में भी चित्त की उसी विशेष अवस्था में मैं विहार करता रहा।

महापरिनिर्वाण के कुछ ही दिनों पूर्व धर्मसेनापति सारिपुत्त की यह उदार आर्षभी वाणी हमें पढ़ने को मिलती है, जब उन्होंने भगवान के प्रति कहा –

तं भगवतो असेसमभिजानतो उत्तरि अभिञ्ञेय्यं नत्थि।

– जिन्होंने सब कुछ जान लिया उन भगवान के लिए कुछ और जानने योग्य नहीं बचा है,

यदभिजानं अञ्ञो समणो वा ब्राह्मणो वा भगवता भिय्योभिञ्ञतरो अस्स, यदिदं कुसलेसु धम्मेसु।

(दी० नि० ३.१४५, सम्पसादनीयसुत्त)

– जिसे जान कर कोई अन्य श्रमण या ब्राह्मण कुशल धर्मों में भगवान से आगे बढ़ गया हो।

उन्हीं से सीख कर कोई उनसे आगे कैसे बढ़ जाता?

भगवान ने सर्वोत्तम कुशल धर्मों को जाना और जीवन भर लोगों को यही सिखाया।

वरो वरञ्ञू वरदो वराहरो, अनुत्तरो धम्मवरं अदेसयि।

(सु० नि० २३७, रतनसुत्त)

– जो श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठ धर्म के जानकार हैं, श्रेष्ठ धर्म के दाता हैं, श्रेष्ठ धर्म धारण कर उसका निर्देशन करने वाले हैं, उन अनुत्तर सम्यक संबुद्ध ने लोगों को श्रेष्ठ अनुत्तर धर्म ही दिया।

इसी माने में भगवान अनुत्तर थे। तभी कहा गया – **इतिपि सो भगवा अनुत्तरो।**

ऐसे अनुत्तर भगवान अनुत्तर धर्म की देशना देकर बिगड़ैल घोड़ों की तरह पथभ्रष्ट हुए लोगों के दूषण का दमन करके उन्हें सन्मार्ग पर लगाते थे, इसीलिए –

इतिपि सो भगवा अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि – वे ऐसे भी भगवान अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि हैं।

किस माने में अनुत्तर हैं? किस माने में श्रेष्ठ हैं?

दन्तो दमयतं सेट्ठो – दमन करने वालों में वही श्रेष्ठ है जो स्वयं दांत है।

सन्तो समयतं इसि – शमन करने वालों में वही संत या ऋषि है जो स्वयं शांत है।

मुत्तो मोचयतं अग्गो – मुक्त करने वालों में वही अग्र है जो स्वयं मुक्त है।

तिण्णो तारयतं वरो – तारने वालों में वही वरेण्य है जो स्वयं तर चुका है।

(इतिवु० ११२, लोकसुत्त)

भगवान स्वयं दांत थे, अतः दमन करने में श्रेष्ठ थे। स्वयं शांत थे, अतः शांत करने में कुशल थे। स्वयं मुक्त थे, अतः मुक्त करने में अग्र थे। स्वयं तर चुके थे, अतः तारने में निपुण थे।

सो वत, चुन्द, अत्तना अदन्तो, अविनीतो, अपरिनिब्बुतो परं दमेस्सति विनेस्सति परिनिब्बापेस्सतीति नेतं ठानं विज्जति।

(म० नि० १.८७, सल्लेखसुत्त)

– हे चुंद, जो स्वयं अदांत है, अविनीत है, अपरिनिवृत्त है, वह दूसरे को दांत, विनीत और परिनिवृत्त कर सकेगा, इसकी संभावना नहीं है।

परंतु जो स्वयं दांत, विनीत और परिनिवृत्त है, वह दूसरे को दांत, विनीत, परिनिवृत्त कर सकेगा, इसकी संभावना है।

अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अधञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो॥

(ध० प० १५८, अत्तवग्ग)

– पहले अपने आपको उचित जीवनचर्या में लगाये, फिर किसी अन्य को अनुशासित करे। ऐसा समझदार व्यक्ति क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

दूसरे को उपदेश देना बड़ा सरल है, पर अपने आपको अनुशासित करना कठिन है।

अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥

(ध० प० १५९, अत्तवग्ग)

– दूसरे को जैसा अनुशासित करे वैसा पहले अपने आपको बनाये। पहले अपने आपका भली-प्रकार दमन कर दूसरे का दमन करे। अपने को दमन करना कठिन है।

जो कठिन है, वही आवश्यक है, अनिवार्य है, सुफलदायी है।

यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकञ्च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥

(ध० प० १०३, सहस्सवग्ग)

– संग्राम-भूमि में हजारों को जीत लेने वाले की अपेक्षा उत्तम संग्राम-विजयी वही है, जो एक अपने आपको जीत ले।

स्वयं अपने आपको जीतने से जो उपलब्धि होती है, वह दुर्लभ है, अनमोल है।

अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं। (ध० प० १६०, अत्तवग्ग)

– अपने आपको सुदांत कर लेने पर आत्म- निर्भरता का दुर्लभ स्वामित्व मिल जाता है।

इसलिए अपने आपको जीतना ही प्रमुख है, प्रधान है।

अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो॥
नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥

(ध० प० १०४-१०५, सहस्सवग्ग)

– औरों को जीतने की अपेक्षा स्वयं अपने आपको जीतना श्रेष्ठ है। अपने आपका दमन करने वाले और अपने आपको नित्य संयमित रखने वाले व्यक्ति की विजय को न देवता, न गंधर्व, न ब्रह्मा सहित मार ही पराजय में बदल सकता है।

रणक्षेत्र में एक व्यक्ति दूसरे को जीतता है शारीरिक बल से, शस्त्रों के बल से, रणनीति की कुशलता के बल से। परंतु धर्मक्षेत्र में एक व्यक्ति दूसरे को जीतता है धर्म के बल से, सद्गुणों के बल से, धर्मनीति के बल से। जीत व्यक्ति की नहीं धर्म की होती है, सद्गुणों की होती है। हार व्यक्ति की नहीं अधर्म की होती है, दुर्गुणों की होती है। दुर्गुणों को सद्गुणों से जीतना ही सही जीतना है।

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं॥

(ध० प० २२३, कोधवग्ग)

– क्रोध को अक्रोध से जीते, बुराई को भलाई से जीते, कंजूस को दान से जीते, झूठे को सच्चाई से जीते।

क्रोध को अक्रोध से जीतने के लिए स्वयं अक्रोधी होना अनिवार्य है। यदि क्रोध उत्पन्न हो भी जाय, तो जो व्यक्ति उसका तुरंत शमन कर सकने में निपुण होता है, धर्म के क्षेत्र में वही विजेता होता है।

यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तंव वारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

(ध० प० २२२, कोधवग्ग)

– जो उत्पन्न हुए क्रोध को भ्रांत हुए रथ की भांति रोक लेता है, मैं उसी को सारथि कहता हूं। दूसरे तो केवल लगाम पकड़ने वाले हैं।

उत्पन्न हुए क्रोध को रोक ले वह सारथि, पर जो क्रोध उत्पन्न ही न होने दे वह परम सारथि, अनुत्तर सारथि। भगवान ऐसे ही अनुत्तर सारथि थे।

किसी क्रोधी पुरुष के क्रोध का दमन करने के लिए अपने भीतर रंचमात्र भी क्रोध न ज़गने दे, वही **अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि** होता है। भगवान ऐसे ही **अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि** थे।

अंबष्ठ माणवक या आक्रोशक भारद्वाज या कोई भी अन्य व्यक्ति जब उन्हें क्रोध में अपशब्द कहता था, तब भगवान क्रोध विहीन एवं शांत ही रहते थे।

पस्सद्धकायो सुविमुत्तचित्तो, असङ्खरानो सतिमा अनोको।
अञ्ञाय धम्मं अवितक्कझायी, न कुप्पति न सरति न थिनो॥

(सं० नि० १.१.१६१, मारधीतुसुत्त)

– जिसकी काया प्रश्रब्ध हो गयी, जिसका चित्त विमुक्त हो गया, जिसके संस्कार समाप्त हो गये, वह सजग, स्मृतिमान, गृहत्यागी परम धर्म को जान कर, निर्वितर्क, ध्यान-लाभी हो गया है। वह न क्रोध करता है, न वैर बाँधता है, न मन को उदास करता है।

ऐसे सम्यक संबुद्ध राग-द्वेष के विकारों से स्वयं सर्वथा विमुक्त होकर ही महती अनुकंपा सहित लोकहित के लिए लोगों को धर्मदेशना देते थे और उसमें सफल होते थे।

हितानुकम्पी सम्बुद्धो, यदञ्ञमनुसासति।
अनुरोधविरोधेहि, विप्पमुत्तो तथागतो॥

(सं० नि० १.१.१५०, पतिरूपसुत्त)

– तथागत प्रिय के प्रति अनुरोध (राग) और अप्रिय के प्रति विरोध (द्वेष) के विकारों से विमुक्त हैं। ऐसे संबुद्ध जनहितार्थ अनुकंपा करते हैं और दूसरों को अनुशासित करते हैं।

जो अपने आपको विकारों से सर्वथा मुक्त कर लेते हैं, वही औरों को अनुशासित कर पाते हैं। अपने आपको विकारों से सर्वथा विमुक्त करके ही भगवान सही माने में विजयी हुए, जिन हुए, सम्यक संबुद्ध हुए, **अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि** हुए।

मार विजय

वैशाख पूर्णिमा की रात बोधि-वृक्ष के तले बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम का देवपुत्र मार से जो युद्ध हुआ वह धर्म का अधर्म से युद्ध था, निर्मलता का विकारों से युद्ध था, सद्गुणों का दुर्गुणों से युद्ध था, अमरत्व का मृत्यु से युद्ध था। इस युद्ध में जीत धर्म की हुई। इस जीत से ही बोधिसत्त्व सम्यक संबुद्ध बने, सर्वजिन बने, सर्वज्ञ बने।

पौराणिक कथाओं में कामदेव का जिक्र आता है, जो देवराज इंद्र के आदेश पर तपस्या में लीन तपस्वियों के मन में काम- वासना जगा कर उन्हें पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न करता हुआ दिखाया जाता है। परंतु देवपुत्र मार केवल काम-वासना का ही नहीं प्रत्युत समस्त दुर्गुणों का प्रतीक है। काम-वासना भी इन दुर्गुणों में एक है। वह अपनी सारी सशस्त्र सेना सहित आक्रमण करके भी बोधिसत्त्व को विचलित न कर सका, तो पराजित हो जाने के कारण बड़ा उदास हुआ। पौराणिक कथाओं में कामदेव की पत्नी का नाम रति है, परंतु वह तपस्वी में काम-वासना जगा कर उसे डिगाने में कामदेव का साथ देती नहीं देखी जाती, जबकि देवपुत्र मार की तीन पुत्रियां हैं – तृष्णा, अरति और रगा जो अपने पिता के उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देती हैं और तपस्वी में काम-वासना जगाने का हर संभव प्रयत्न करती हैं। जब स्वयं मार अपनी सेना सहित बोधिसत्त्व को न डिगा सका, तब इन तीनों ने उन्हें काम-वासना के आयुध से डिगाने का भरसक प्रयत्न किया और पूर्णतया असफल रहीं।

दद्दल्लमाना आगञ्छुं, तण्हा च अरती रगा।
ता तत्थ पनुदी सत्था, तूलं भट्ठंव मालुतो॥

– खूब चमक-दमक के साथ आयी हुई तृष्णा, अरति और रगा को भगवान ने वैसे ही तितर-बितर कर दिया, जैसे कि हवा रूई के फाहों को उड़ा देती है।

जैसे पिता मार पराजित हुआ, वैसे ही ये तीनों पुत्रियां भी तथागत द्वारा पराजित हुईं और –

अथ खो तण्हा च अरति च रगा च मारधीतरो एकमन्तं अपक्कम्म एतदवोचुं –

– मार-पुत्रियां तृष्णा, अरति और रगा ने एक ओर हट कर यह कहा –

सच्चं किर नो पिता अवोच – हमारे पिता ने ठीक ही कहा था,

अरहं सुगतो लोके, न रागेन सुवानयो।

– संसार में अरहंत हुए सुगत कामराग में नहीं फँसाये जा सकते।

एवं झायिं बहुलं कामसञ्ञा, परिवाहिरा होन्ति अलद्ध यो तं।

(सं० नि० १.१.१६१, मारधीतुसुत्त)

– ऐसे विपुल ध्यानी को कामसंज्ञा पकड़ नहीं पाती, वह उसके बाहर ही रहती है।

देवपुत्र मार और उसकी तीन पुत्रियों के उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त परवर्ती साहित्य में मार और उसकी सेना का प्रतीकात्मक तथा आलंकारिक भाषा में वर्णन मिलता है। जैसे कि –

बाहुं सहस्समभिनिम्मित सावुधन्तं, गिरिमेखलं उदितघोरससेनमारं।

(जयमङ्गल-अट्ठगाथा)

यहां बताया गया है कि मार विभिन्न अस्त्र- शस्त्रधारी है और सहस्र भुजाओंवाला है तथा गिरिमेखला नामक विशालकाय भयानक हाथी पर सवार है।

परम अर्थ में देवपुत्र मार उन सारी बुराइयों का समुच्चय है, जो भव-विमुक्ति के मार्ग पर बाधक होती हैं।

मार मृत्यु का प्रतीक भी है। बार-बार जन्मने और बार-बार मरते रहने का सारा क्षेत्र मार का क्षेत्र है, यानी मृत्यु का क्षेत्र है। इसीलिए पांच मार गिनाये गये हैं –

(१) **खन्धमार** – पांचों स्कंधों का क्षेत्र ही मार है।

इसीलिए यह स्पष्टीकरण किया गया –

'मारो, मारो'ति, भन्ते, वुच्चति – भंते, मार-मार कहते हैं।

कित्तावता नु खो, भन्ते, मारोति – भंते, कौन है यह मार?

राध, रूपं मारो – हे राध, यह रूप- स्कंध (यानी सारा भौतिक जगत) मार है।

वेदनाय... सञ्ञाय... सङ्खारेसु... विञ्ञाणे... विञ्ञाणं मारो।

– वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान – नाम के ये चारों स्कंध (यानी सारा चैतसिक जगत) मार हैं। (सं० नि० २.३.१६०, मारसुत्त)

अर्थात नाम और रूप का सारा क्षेत्र अथवा यों कहें, यह सारा संसार ही मार का क्षेत्र है, मृत्यु का क्षेत्र है। यहां जन्म-मृत्यु का चक्र चलता रहता है।

(२) **किलेसमार** – क्लेश यानी दुःख मार है, मार का क्षेत्र है, मृत्यु का क्षेत्र है। मार के क्षेत्र में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। हर जन्म का अंत मृत्यु में ही होता है। हर सुख दुःख में ही पलटता है।

(३) **अभिसङ्खारमार** – अभिसंस्कार अर्थात कर्म-संस्कार मार है, मार का क्षेत्र है, मृत्यु का क्षेत्र है। जहां तक कर्म- संस्कारों का संग्रह कायम है, वहां तक जन्म-मृत्यु का चक्र चलता ही रहता है।

(४) **मच्चुमार** – मृत्यु मार है। मृत्यु का सारा क्षेत्र मार का ही क्षेत्र है।

(५) **देवपुत्तमार** – परनिर्मितवशवर्ती देवलोक का यह देव मृत्यु के क्षेत्र को अपना अधिकार क्षेत्र मानता है। अतः उसके बाहर निकलने का प्रयत्न करने वाले उसे अप्रिय लगते हैं और उनके इस प्रयत्न को असफल करने का वह हर संभव प्रयत्न करता है।

चित्त के समस्त विकार, मैल, क्लेश, दुर्गुण इसके अस्त्र-शस्त्र हैं। परम अर्थ में यही इसकी सेना है। भगवान ने मार को संबोधित करते हुए कहा-

कामा ते पठमा सेना - तेरी पहली सेना काम-वासना है,

दुतिया अरति वुच्चति - तेरी दूसरी सेना अरति कहलाती है, जो कि साधना के प्रति अरुचि है।

ततिया खुप्पिपासा ते - तेरी तीसरी सेना भूख-प्यास है,

चतुत्थी तण्हा पवुच्चति - चौथी तृष्णा कहलाती है।

पञ्चमं थिनमिद्धं ते - पांचवीं आलस्य है,

छट्ठा भीरू पवुच्चति - छठी भय-भीरुता कहलाती है।

सत्तमी विचिकिच्छा ते - सातवीं शक- संदेह है,

मक्खो थम्भो ते अट्ठमो - आठवीं म्रक्षता और स्तंभता है।

तेरी अन्य सेना है-

लाभो सिलोको सक्कारो - लाभ, प्रसिद्धि, सत्कार,

मिच्छालद्धो च यो यसो - गलत तरीके से प्राप्त किया गया यश।

यो चत्तानं समुक्कंसे - आत्मप्रशंसा और

परे च अवजानति - परनिंदा।

एसा नमुचि ते सेना - हे नमुचि मार, तेरी यही सेना है,

कण्हस्साभिप्पहारिनी - हे काले- कलूटे, काण्ह, तेरी यही सेना प्रहार करती रहती है।

न नं असूरो जिनाति - जो शूरवीर नहीं है, वह इसे नहीं जीत पाता,

जेत्वा च लभते सुखं - जो जीत लेता है, वह सुखलाभी हो जाता है।

आलंकारिक, प्रतीकात्मक भाषा अपनी जगह, परंतु परम अर्थ में तो यही मार की सेना है, यही उसके अस्त्र-शस्त्र हैं, जिनके वार को सामान्य, साधारण साधक सहन नहीं कर पाता और पराजित हो जाता है; परंतु बोधिसत्त्व वीरतापूर्वक इसका सामना करते हैं।

समन्ता धजिनिं दिस्वा, युत्तं मारं सवाहनं।

- दुष्प्रवृत्तियों पर सवार मार को इन दुर्गुणों की ध्वजाधारिणी सेना सहित चारों ओर आया देख कर,

युद्धाय पच्चुग्गच्छामि - मैं युद्ध के लिए सन्नद्ध होता हूं।

मा मं ठाना अचावयि - जिससे कि वह मुझे अपनी तपश्चर्या से च्युत न कर दे।

यं ते तं नप्पसहति, सेनं लोको सदेवको।

- देव-मनुष्य सहित सारा लोक जिस सेना को जीत नहीं पाता,

तं ते पञ्ञाय भेच्छामि, आमं पत्तंव अस्मना।

(सु० नि० ४३८-४४१, ४४४-४४५, पधानसुत्त)

- उसे मैं प्रज्ञा से उसी प्रकार नष्ट कर दूंगा, जिस प्रकार कि कच्चे घड़े को पत्थर।

लाक्षणिक और सांकेतिक भाषा का प्रयोग एक ओर रखें और समझें कि बोधिसत्त्व से युद्ध करने के लिए अस्त्रों-शस्त्रों से सज्जित होकर हाथी-घोड़ों पर सवार मार और मार-सेना नहीं आयी। साधक की अपनी मानसिक दुर्बलताओं का ही आक्रमण था, जो उसे धराशायी कर देने पर उतारू था। पापी मार साधक के मन में उन दुर्बलताओं को उकसा कर उसे साधना-भ्रष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था। उसे परम मुक्ति के लक्ष्य से डिगाने के लिए हर संभव प्रयत्न कर रहा था। पापमयी चैतसिक दुर्बलताओं और दुर्गुणों की इस मारसेना को धर्ममयी बोधि की सबलताओं और सद्गुणों से ही हराया जा सकता था। और यही हुआ-

सीलं समाधि पञ्ञञ्च, मग्गं बोधाय भावयं।
पत्तोस्मि परमं सुद्धिं, निहतो त्वमसि अन्तक॥

(सं० नि० १.१.१३७, तपोकम्मसुत्त)

- शील, समाधि और प्रज्ञा वाले बोधि के मार्ग की भावना कर मैंने परम शुद्धि, परम मुक्ति प्राप्त कर ली है। हे अंतक मार, मैंने तुम्हारा वध कर दिया है।

वध कर दिया है माने अब वह मेरे भीतर पुनः अपना सिर नहीं उठा सकता। पुनः मुझ पर आक्रमण नहीं कर सकता।

ये च कायेन वाचाय, मनसा च सुसंवुता।
न ते मारवसानुगा, न ते मारस्स बद्धगु॥

(सं० नि० १.१.१३९, सुभसुत्त)

– जो शरीर, वाणी और मन से सुसंयत रहते हैं, वे मार के वश में नहीं होते। वे मार के फेर में नहीं पड़ते।

असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलंव पब्बतं॥

(ध० प० ८, यमकवग्ग)

– अशुभानुपश्यना की साधना में विहार करने वाले, इंद्रियों से सुसंयत, भोजन में मात्रज्ञ, श्रद्धालु, पुरुषार्थी व्यक्तियों को मार वैसे ही नहीं डिगा सकता, जैसे कि आंधी शैल पर्वत को।

परंतु जो इसके विपरीत जीवन जीते हैं, उन्हें मार वैसे ही उखाड़ फेंकता है, जैसे आंधी दुर्बल पेड़ को।

सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि चामत्तञ्ञुं, कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खंव दुब्बलं॥

(ध० प० ७, यमकवग्ग)

जो लोग आंख और रूप, कान और शब्द, नाक और गंध, जिव्हा और रस, काया और स्पर्श, चित्त और मनोरम चिंतन के रस का आस्वादन करते हुए उसका अभिनंदन करते हैं, उसी में डूबे रहते हैं, वे मार के वश में पड़े रहते हैं, मार के बंधन में पड़े रहते हैं।

(सं० नि० २.४.११५, दुतियमारपाससुत्त)

नीचे निरय लोक से लेकर ऊपर अरूपब्राह्मी भवाग्र-लोक तक का सारा क्षेत्र रूप का यानी भौतिकता का क्षेत्र है या नाम का अर्थात चित्त और चित्तवृत्तियों का क्षेत्र है अथवा अधिकांशतः रूप और नाम का सम्मिश्रित क्षेत्र है। यह सारा का सारा मार का क्षेत्र है, मृत्यु का क्षेत्र है। यहां के सारे भौतिक पदार्थ तथा चित्त और चैतसिक अवस्थाएं अनित्यधर्मा हैं, विपरिणामधर्मा हैं, मरणधर्मा हैं। नाम-रूप का यह सकल क्षेत्र इंद्रियों का क्षेत्र है। अधिकांशतः छः इंद्रियों का अथवा कहीं-कहीं तीन या एक ही इंद्रिय का क्षेत्र है। इन इंद्रिय क्षेत्रों में किसी न किसी इंद्रिय का संबंधित विषय से स्पर्श होता है। स्पर्श होता है, तो वेदना होती है और यदि वेदना के प्रति राग या द्वेष की तृष्णा जागती है, तो मार के मृत्यु-पाश का बंधन आरंभ हो जाता है। अतः सारा ऐंद्रिय क्षेत्र मार का क्षेत्र है, मृत्यु का क्षेत्र है। यह अनित्यधर्मा है, अतः दुःखधर्मा है।

जो तथागत हो जाते हैं वे ऐंद्रिय विषयों से विरक्त हो जाते हैं। इसलिए अपने अंतिम जीवन की पूर्ण अवधि तक मार के क्षेत्र में रहते हुए भी मार के बंधनों से मुक्त रहते हैं।

रूपा सद्दा रसा गन्धा, फोट्ठब्बा च मनोरमा।
एत्थ मे विगतो छन्दो, निहतो त्वमसि अन्तकाति॥

(सं० नि० १.१.१५१, मानससुत्त)

– रूप, शब्द, रस, गंध, स्प्रष्टव्य और मन को लुभाने वाले सारे मनोरम विषयों के प्रति मेरी कामनाएं समाप्त हो गयी हैं। अंतक मार, तुम्हारा वध कर दिया गया है यानी तुम जीत लिये गये हो, तुम धराशायी हो गये हो।

मार बड़ा पापी है। स्वयं विपथगामी है और अन्य प्राणियों को पथभ्रष्ट करते रहता है। इसीलिए मार को कहते हैं–

पापिमा – पापी मार,

कण्हा – काला-कलूटा यानी मन की कालिमा का पक्षधर;

अनत्थकामा – अनर्थ की कामना करने वाला;

अहितकामा – अहित की कामना करने वाला;

अयोगक्खेमकामा – योग-क्षेम विहीनता की कामना करने वाला।

मार बड़ा बलवान है। इसके आधिपत्य से छूट पाना सरल नहीं है। इसीलिए मार को कहते हैं-

अधिपति - सारे लोकों पर जिसका आधिपत्य छाया हुआ है।

अन्तक - सभी प्राणियों का बार-बार अंत करने वाला।

नमुचि - जिसके बंधन से साधारणतया कोई मुक्त नहीं हो सकता।

वसवत्ती - वशवर्ती, प्राणियों को अपने वश में रखने वाला।

बलवान ही नहीं, यह बड़ा धूर्त भी है, चालाक भी है। अच्छे-अच्छे समझदार-समझदार लोगों को ठग लेता है। कोई व्यक्ति ऐंद्रिय विषयों से विरक्त भी हो जाय, वीतराग भी हो जाय, वीतद्वेष भी हो जाय, फिर भी उसे किसी न किसी काल्पनिक दार्शनिक मान्यता में उलझा कर वीतमोह नहीं होने देता। उसे भवाग्र तक पहुँचा कर भी उस लौकिक अवस्था को नित्य, शाश्वत, ध्रुव होने की मिथ्या काल्पनिक मान्यता के पाश में बांध कर आगे लोकोत्तर अवस्था की ओर बढ़ने नहीं देता।

कोई तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध होते हैं, तो मार के दिव्य और मानुषी सारे बंधनों से विमुक्त हो जाते हैं।

मुत्ताहं, भिक्खवे, सब्बपासेहि ये दिब्बा ये च मानुसा।

(सं० नि० १.१.१४१, दुतियमारपाससुत्त)

- भिक्षुओ, मैं इन सारे बंधनों से - जो दिव्य तथा मानुषी हैं - मुक्त हो गया हूं।

मुक्त होने के लिए एक तो यह आवश्यक है कि सही दिशा में सही ढंग का चिंतन हो; दूसरे यह कि किन्हीं दार्शनिक मान्यताओं में उलझ कर जो अनित्य, अशाश्वत, अध्रुव, लौकिक क्षेत्र है उसे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, लोकोत्तर क्षेत्र मान कर ऐसे मील के पत्थर के पास अटका न रह जाय। तीसरे यह कि सतत सजग रह कर प्रयत्नशील बना रहे, पुरुषार्थी बना रहे; किसी अन्य के भरोसे न बैठा रह जाय।

मय्हं खो, भिक्खवे, योनिसो मनसिकारा - भिक्षुओ, मैंने समुचित मनोचिंतन करके,

योनिसो सम्मप्पधाना - समुचित रूप से सम्यक पुरुषार्थ करके,

(सं० नि० १.१.१४०, पठममारपाससुत्त)

निहतो मारो बोधिमूलेति - बोधि- वृक्ष के तले मार का अंत किया।

(नेत्ति० ६४, विचयहारसम्पात)

निहतो समुच्छिन्नो किलेसमारो बोधिरुक्खमूले - बोधि-वृक्ष के तले सारे क्लेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले मार का संहार कर दिया यानी उसे उखाड़ फेंका।

अंतक मार का अंत कर दिया यानी उसकी सारी शक्तियों को नष्ट कर दिया। भव-बंधन से पूर्णतया विमुक्त हो गया।

सारे लोकों से विमुक्ति है तो ही अनुत्तर विमुक्ति है। ऐसी अनुत्तर विमुक्ति को प्राप्त करने वाले अनुत्तर तथागत मार को पराजित कर देते हैं, उसे ध्वस्त कर देते हैं।

मार और उसकी दु:शक्तियों को परास्त करने में किसी देव या ब्रह्म की नहीं, बल्कि अनेक जन्मों में स्वयं संचित की हुई विपुल पारमिताओं की धर्म-शक्तियां ही काम आती हैं।

(जयमङ्गल-अट्ठगाथा)

दानादिधम्मविधिना जितवा मुनिन्दो।

- मुनींद्र भगवान बुद्ध दान आदि पारमिताओं के धर्म-बल पर जीते।

वे दान, शील, निष्क्रमण, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा नामक दस पारमिताओं और उन्हीं का संवर्द्धन करते हुए दस उप-पारमिताओं और दस परमार्थ-पारमिताओं की परिपूर्णता उपलब्ध करके ही सम्यक संबोधि प्राप्त कर सके और मार की शक्तियों को पराजित कर सके। उप- पारमिताओं को परिपूर्ण करने के लिए सर्वस्व त्यागना पड़ता है और परमार्थ-पारमिताओं को परिपूर्ण करने में अपने जीवन तक का त्याग करना पड़ता है।

भगवानं सम्यक संबुद्ध कस्सप के पश्चात एक लंबे अंतराल में परम विमुक्त होने की विद्या सर्वथा विलुप्त हो गयी थी। ध्यानी लोग अधिक से अधिक आठों ध्यान समापत्तियां उपलब्ध कर उसी भवाग्र अवस्था को

विमुक्ति की अंतिम अवस्था मान बैठे थे। इस युग में इस लौकिक भवाग्र क्षेत्र का भी अतिक्रमण कर, लोकोत्तर निर्वाणिक अवस्था का सर्वप्रथम साक्षात्कार कर सकने के कारण तथागत अनुत्तर हुए और इसी कारण औरों का समुचित अनुशासन करते हुए अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि हुए।

सम्यक संबोधि प्राप्त होने पर दस सिद्धियां प्राप्त हुईं, जो तथागत के दस बल कहलाये। चार निर्भयताएं प्राप्त हुईं, जो चार वैशारद्य कहलाये। इन्हीं के बल पर वे लोगों का समुचित मार्ग-दर्शन कर सके। जिस परम विमुक्त अवस्था पर स्वयं पहुँचे, उस तक पहुँच पाने के लिए लोगों के सहायक बन सके।

जैसे पापी मार पाप-वृत्तियों का सहारा लेकर प्राणियों को लोकचक्र में उलझाये रखता है, वैसे ही अनुत्तर संबोधि और अनुत्तर विमुक्ति प्राप्त सम्यक संबुद्ध धर्म का सहारा लेकर लोगों को धर्म की ओर उन्मुख करते हुए, उनके हित-सुख के लिए, उनकी विमुक्ति के लिए अनुत्तर धर्मचक्रप्रवर्तन करते हैं।

स खो सो, भिक्खु, तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो – हे भिक्षु, वे तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध,

धम्मिको, धम्मराजा – धार्मिक, धर्मराज,

धम्मंयेव निस्साय – धर्म के ही सहारे से,

धम्मं सक्करोन्तो – धर्म का सत्कार करते हुए,

धम्मं गरुं करोन्तो – धर्म के प्रति गौरव प्रदर्शित करते हुए,

धम्मं अपचायमानो – धर्म का सम्मान करते हुए,

धम्मद्धजो, धम्मकेतु – धर्म-ध्वज, धर्म- केतु,

धम्माधिपतेय्यो – धर्म का आधिपत्य स्वीकार करते हुए,

धम्मिकं रक्खावरणगुत्तिं संविदहित्वा कायकम्मस्मिं ...पे०... वचीकम्मस्मिं ...पे०... मनोकम्मस्मिं,

– कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के प्रति धार्मिक पहरेदारी की व्यवस्था करते हुए,

धम्मेनेव अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तेति। (अ० नि० १.३.१४, चक्कवत्तिसुत्त)

– धर्म से ही अनुत्तर धर्मचक्रप्रवर्तन करते हैं।

इस प्रकार पुरुष-दम्य-सारथि का अनुत्तर धर्म-शासन आरंभ हो जाता है। वे अनुत्तर सारथि लोगों का दमन नहीं करते, लोगों के दुर्गुणों का दमन करते हैं और पूर्णतया धर्मपूर्वक करते हैं, धर्म के आधार पर करते हैं, धर्म को गौरवान्वित रखते हुए करते हैं।

जिस प्रकार एक कुशल रथ-निर्माता रथ के चक्कों का निर्माण करते हुए लकड़ी के दोषों को, कमियों को, बांकपन को कुशलतापूर्वक दूर करता है,

हे भिक्षुओ, उसी प्रकार मैं अरहंत सम्यक संबुद्ध काया, वाणी और मन के दोषों को, कमियों को, बांकपन को दूर करने में कुशल हूं।

(अ० नि० १.३.१५, सचेतनसुत्त)

भगवान जिस अवस्था को स्वयं प्राप्त हुए, लोगों को उसी अवस्था तक पहुँचाने के लिए अनुशासित करते थे।

बुद्धो सो भगवा बोधाय धम्मं देसेति – वे भगवान बुद्ध हैं, बोधि के लिए धर्म उपदेशते हैं।

दन्तो सो भगवा दमथाय धम्मं देसेति – वे भगवान दांत हैं, दमन के लिए धर्म उपदेशते हैं।

सन्तो सो भगवा समथाय धम्मं देसेति – वे भगवान शांत हैं, शांति के लिए धर्म उपदेशते हैं।

तिण्णो सो भगवा तरणाय धम्मं देसेति – वे भगवान तीर्ण हैं, तरने के लिए धर्म उपदेशते हैं।

परिनिब्बुतो सो भगवा परिनिब्बानाय धम्मं देसेति।

(म० नि० १.३६१, चूळसच्चकसुत्त)

– वे भगवान परिनिवृत्त हैं, परिनिर्वाण के लिए धर्म उपदेशते हैं। धर्म उपदेशने में कुशल हैं, इसीलिए लोगों को सही रास्ते पर ले जाने में कुशल हैं। कुशलतापूर्वक उन्हें क्रमिक शिक्षा देते हैं।

सेय्यथापि, ब्राह्मण, दक्खो अस्सदम्मको,

– जैसे कि, हे ब्राह्मण, कोई अश्व दमन करने वाला दक्ष सारथि,

भद्दं अस्साजानीयं लभित्वा – सुभद्र आजानीय अश्व पाकर,

पठमेनेव मुखाधाने कारणं करोति – पहले उसे मुख में लगाम पकड़वाने की क्रिया सिखाता है,

अथ उत्तरिं कारणं करोति – फिर आगे की क्रियाएं सिखाता है।

एवमेव खो, ब्राह्मण – ऐसे ही, हे ब्राह्मण,

तथागतो पुरिसदम्मं लभित्वा – तथागत दम्य यानी संयत बनाने योग्य व्यक्ति को पाकर,

पठमं एवं विनेति – पहले इस प्रकार सिखाते हैं –

एहि त्वं, भिक्खु, सीलवा होहि – आ भिक्षु, तू शीलवान बन,

पातिमोक्खसंवरसंवुतो विहराहि – प्रातिमोक्ष यानी भिक्षु-विनय के संवर से संयमित हो विहार कर,

आचारगोचरसम्पन्नो – सदाचार से संपन्न होकर विहार कर,

अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्सावी – अणु- मात्र भी वर्जित काम करने में भय देखता हुआ,

समादाय सिक्खस्सु सिक्खापदेसु – शिक्षा पदों को ग्रहण करना सीख।

धर्मविनय की इस प्रारंभिक शिक्षा में निपुण बना कर –

तथागतो उत्तरिं विनेति – तथागत आगे की शिक्षा देते हैं।

इन्द्रियेसु गुत्तद्वारो होहि ...पे०... – तू इंद्रिय और उसके विषयों के प्रति सजग संयत हो...।

भोजने मत्तञ्ञू होहि ...पे०... – तू भोजन में मात्रा का ख्याल रखने वाला बन...।

जागरियं अनुयुत्तो विहराहि ...पे०... – तू जागरण में तत्पर हो...।

सतिसम्पजञ्ञेन समन्नागतो होहि – तू स्मृति, संप्रज्ञानयुक्त हो।

(म० नि० ३.७५, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

तत्पश्चात पांचों नीवरणों से छुटकारा दिला कर पहले से चौथे ध्यान तक का अभ्यास कराते थे। यों क्रमशः शिक्षा देते हुए साधक को परम विमुक्त अवस्था तक पहुँचने में मार्गदर्शक बनते थे। इस माने में **अनुत्तर पुरिसदम्मसारथि** की भूमिका कुशलतापूर्वक निभाते थे। तभी भगवान प्रशिक्षकों में परम प्रशिक्षक कहलाते थे, अनुत्तर कहलाते थे –

सो वुच्चति योग्गाचरियानं अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि।

(म० नि० ३.३१२, सळायतनविभङ्गसुत्त)

अन्य जितने भी प्रशिक्षक होते थे, जैसे हस्ति-दमन करने वाले, अश्व-दमन करने वाले, गो-दमन करने वाले; वे उन-उन पशुओं का दमन करके यानी उन्हें प्रशिक्षण देकर इस योग्य बना देते थे कि वे एक बार में किसी एक दिशा में दौड़ लगा सकने लायक बन जायँ। परंतु भगवान तथागत **योग्गाचरियानं अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि** (म० नि० ३.३१२, सळायतनविभङ्गसुत्त) होने के कारण किसी योग्य व्यक्ति को ऐसा उत्तम प्रशिक्षण देते थे कि वह ध्यान की एक ही बैठक में आठ दिशाओं में दौड़ लगाने योग्य हो जाता था, यानी रूप ध्यान से लेकर **संज्ञा-वेदयित-निरोध** ध्यान तक की उपलब्धि हासिल करने योग्य बन जाता था। भगवान इसलिए भी अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि थे।

हाथी, बैल, घोड़े आदि का दमन कर उन्हें वश में करने वाले सारथि, शिक्षक डंडे या शस्त्र का उपयोग करते थे, परंतु तथागत अनुपम पुरुष-दम्य-सारथि थे, वे धर्म के बल पर लोगों को सुधार देते थे, उनकी उद्दंडता दूर कर देते थे, उन्हें धर्म के प्रति सुविनीत बना देते थे।

यक्ष आळवक

आळवक नाम का यक्ष एक सूने घर में निवास करता था। भगवान चारिका करते हुए उस ओर से निकले तो उस सूने घर में सुस्ताने और ध्यान करने के लिए चले गये। जब यक्ष आळवक आया तो उसने कुपित होकर भगवान से कहा कि मेरे घर से बाहर निकल जाओ। भगवान समताभाव से घर के बाहर चले गये। थोड़ी देर बाद उसने भगवान से कहा – "श्रमण, भीतर चले आओ।" भगवान भीतर आ गये। कुछ देर बाद उसने फिर भगवान से बाहर जाने के लिए कहा। भगवान बाहर चले गये। कुछ देर बाद फिर भीतर बुला लिया। तीसरी बार भी यही किया। जैसे-जैसे वह कहता गया, वैसे-वैसे भगवान करते गये। जब उसने चौथी बार फिर बाहर जाने को कहा, तब भगवान ने अत्यंत समता भरे चित्त से, परंतु दृढ़ता भरे शब्दों में कहा – "मैं बाहर नहीं जाऊंगा। तुम्हें जो करना हो सो करो।" यह सुन कर यक्ष आग-बबूला हो उठा। उसकी आज्ञा की अवहेलना करने वाला उसे अब तक कोई नहीं मिला था। भगवान की अभय, शांत मुद्रा देख कर उसने सोचा कि कौन जाने यह कोई विशिष्ट ज्ञानी व्यक्ति हो। इसके ज्ञान की परीक्षा लेनी चाहिए। यदि यह मेरे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर न दे सका तो मैं इसे सबक सिखाऊंगा। उसने धमकाते हुए कहा –

– हे श्रमण, मैं तुमसे प्रश्न पूछूंगा और यदि तुम उत्तर न दे सके तो –

चित्तं वा ते खिपिस्सामि – तुम्हारा चित्त विक्षिप्त कर दूंगा।

हदयं वा ते फालेस्सामि – तुम्हारा हृदय विदीर्ण कर दूंगा।

पादेसु वा गहेत्वा पारगङ्गाय खिपिस्सामि।

– तुम्हारे पांव पकड़ कर गंगा नदी के पार फेंक दूंगा।

भगवान ने उसे शांति और दृढ़ता भरे शब्दों में उत्तर दिया –

– हे आयुष्मान, मैं देव, मार, ब्रह्मा और श्रमण तथा ब्राह्मण सहित सारी प्रजा में किसी ऐसे प्राणी को नहीं देखता, जो मेरा चित्त विक्षिप्त कर सके, जो मेरा हृदय विदीर्ण कर सके, जो मुझे पैरों से पकड़ कर गंगा नदी के पार फेंक सके।

अपि च त्वं, आवुसो, पुच्छ यदाकङ्खसीति। (सु० नि०, आळवकसुत्त)

– फिर भी, हे आयुष्मान, जो चाहो सो पूछो।

यक्ष आळवक ने पूछा –

किं सूध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं – इस संसार में लोगों का श्रेष्ठ धन क्या है?

किं सु सुचिण्णं सुखमावहाति – क्या अभ्यास करने से सुख प्राप्त होता है?

किं सु हवे सादुतरं रसानं – रसों में कौन-सा रस श्रेष्ठ है?

कथंजीविंजीवितमाहु सेट्ठं – कौन-सा जीवन श्रेष्ठ जीवन कहलाता है?

भगवान ने शांत, मधुर वाणी में उत्तर दिया –

सद्धीध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं – यहां इस संसार में लोगों का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है,

धम्मो सुचिण्णो सुखमावहाति – धर्म के अभ्यास करने से सुख प्राप्त होता है।

सच्चं हवे सादुतरं रसानं – रसों में सच्चाई का रस ही श्रेष्ठ है,

पञ्ञाजीविंजीवितमाहु सेट्ठं – प्रज्ञामय जीवन ही श्रेष्ठ जीवन कहलाता है।

भगवान की वाणी में करुणा की फुहार थी, प्यार का प्रवाह था, प्रज्ञा का प्रकाश था, धर्म-गंगा का कलकल निनाद था। क्रोध की अग्नि से उत्तप्त यक्ष पर अमृत का शीतल मेघ-वर्षण हुआ। वह शांत होता गया, परंतु भगवान की वाणी से कुछ और सुनना चाहता था। अतः उसने कुछ और प्रश्न किये। वाणी में मधुरस घोलते हुए भगवान ने उनके उत्तर दिये। वह प्रश्न पर प्रश्न करता गया, भगवान उत्तर देते गये। अंत में भगवान ने कहा –

श्रद्धालु गृहस्थ के लिए सत्य, धर्म, धैर्य और त्याग - ये चार धारण करने योग्य हैं, जिन्हें धारण करके वह इस लोक में और परलोक में कहीं व्याकुल नहीं होता।

यह सुन कर वह श्रद्धा से भर उठा। उसकी सारी क्रोधाग्नि बुझ गयी, वह पानी-पानी हो गया और भगवान के चरणों में नत- मस्तक होकर उनका अंजलिबद्ध उपासक बन गया।

यों धर्म का अमृतपान कर उसने ये उद्गार प्रकट किये -

सो अहं विचरिस्सामि, गामा गामं पुरा पुरं।
नमस्समानो सम्बुद्धं, धम्मस्स च सुधम्मतं॥

(सु० नि० १८३-१८४, १९४, आळवकसुत्त)

- अब मैं सम्यक संबुद्ध और उनके द्वारा उपदेशित धर्म की सुधर्मता को नमस्कार करते हुए गांव-गांव और नगर-नगर विचरण करूंगा।

अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि द्वारा दुर्दमनीय से दुर्दमनीय का यथोचित दमन हुआ और उसका परम कल्याण हुआ।

मारातिरेकमभियुज्झितसब्बरत्तिं।
घोरम्पनालवकमक्खमथद्धयक्खं।
खन्ति सुदन्तविधिना जितवा मुनिन्दो॥ (जयमङ्गल-अट्ठगाथा)

- मार के अतिरिक्त सारी रात घोर संग्राम करने वाले दुर्धर्ष और कठोर हृदय वाले आळवक नामक यक्ष को मुनींद्र ने सहिष्णुता और संयम के बल से जीत लिया।

अंगुलिमाल

निरपराध लोगों को निर्दयतापूर्वक मार कर उनकी अंगुलियां गले की माला में पिरो-पिरो कर पहनने वाला खूंखार हत्यारा अंगुलिमाल कोशल देश के लोगों के लिए, कोशल देश की धरती के लिए हौआ बन गया था। उससे भयभीत होकर उस देश के गांव के गांव, निगम के निगम, जनपद के जनपद उजड़ रहे थे। यात्री उस रास्ते निकलते हुए कांपते थे। बीस, तीस,

चालीस लोग इकट्ठे होकर जाते, तो भी उस हत्यारे के हाथों पड़ जाते और मारे जाते। कोशल राज्य के सैनिक भी उसे न पकड़ पाये, न मार पाये। तब प्रजा की पुकार सुन कर सैनिकों की एक बड़ी टुकड़ी लेकर कोशलनरेश प्रसेनजित उसका खात्मा करने के लिए स्वयं कटिबद्ध हुआ। राजा होने के नाते वह उसका वध कर धरती का और धरती के बाशिंदों का भार दूर करना चाहता था।

ऐसे समय उस हत्यारे से प्रपीड़ित लोगों के प्रति ही नहीं, प्रत्युत उस हत्यारे के प्रति भी महाकारुणिक भगवान बुद्ध के हृदय में करुणा जागी। उसके वध कर दिये जाने पर कुछ समय के लिए धरती का भार अवश्य हल्का होता, वहां के लोगों को राहत अवश्य मिलती; परंतु वध कर दिये जाने से उस हत्यारे का उद्धार नहीं होता। वध कोई भी करे, पर हत्यारे का उद्धार तो उसके भीतर समायी हुई राक्षसी-वृत्ति का वध करने से होगा। राक्षसी-वृत्ति वाला व्यक्ति सुधरेगा, तो ही उसका उद्धार होगा, अन्यथा जन्म-जन्मांतरों में उसी दूषित वृत्ति का गुलाम रह कर वह अपनी तथा औरों की हानि करता रहेगा और पृथ्वी पर भार बना रहेगा। भगवान को उस हत्यारे का उद्धार करना था। अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि थे, इसलिए उसका दमन करना था, यानी उसकी दानवी वृत्तियों का दमन करना था।

भगवान उसे उबारने के लिए चल पड़े। पहले जरा ऋद्धिबल का प्रयोग किया। अंगुलिमाल हाथ में खड्ग उठा कर भगवान को मारने के लिए उद्यत हुआ। भगवान साधारण चाल से चल रहे थे और वह पीछे- पीछे बेतहाशा दौड़ा आ रहा था, परंतु ऋद्धिबल का ऐसा प्रभाव था कि वह उनके समीप नहीं पहुँच पा रहा था। यह देख कर वह क्रोध से आग-बबूला हो उठा। भगवान के समीप पहुँच कर उनकी हत्या कर सकने की अपनी असमर्थता पर झुँझला उठा। उसे आश्चर्य हो रहा था कि पूरे वेग से दौड़ते हुए हाथी, घोड़े, रथ, मृग आदि का पीछा करके वह उन्हें पकड़ लिया करता है। आज यह श्रमण उसकी पकड़ में क्यों नहीं आ रहा है? वह दौड़ते हुए रुका और चिल्ला कर बोला -

तिट्ठ, तिट्ठ, समण - हे श्रमण, रुक, ठहर।

भगवान ने शांत वाणी में उत्तर दिया–

ठितो अहं, अङ्गुलिमाल – हे अंगुलिमाल, मैं रुका हुआ हूं, स्थित हूं।

त्वं च तिट्ठ – तू भी रुक जा, स्थित हो जा।

अंगुलिमाल विस्मित हुआ। यह कैसा श्रमण है? झूठ बोलता है, स्वयं चलता है और कहता है, 'रुका हूं' और मुझ रुके हुए को रुकने के लिए कहता है? यह कैसी बात है, यह जानने के लिए उसने भगवान से प्रश्न पूछा। भगवान ने उसे शांत वाणी में उत्तर दिया–

ठितो अहं अङ्गुलिमाल सब्बदा, सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं।

– हे अंगुलिमाल, सब प्राणियों के प्रति दंड अर्थात शस्त्र त्याग कर मैं सर्वदा स्थित हूं, अविचल हूं।

तुवं च पाणेसु असञ्ञतोसि, तस्मा ठितोहं तुवमट्ठितोसीति।

(म० नि० २.३४८, ३४९, अङ्गुलिमालसुत्त)

– तू प्राणियों के प्रति असंयत है, इसलिए मैं स्थित हूं, तू अस्थित है, विचलित है।

भगवान ने ठीक ही कहा। वे अर्हत्व प्राप्त कर भव-संसरण के आवागमन से विमुक्त होकर रुक गये थे। अंगुलिमाल का भव-संसरण गतिमान था। वह उसे गतिमान बनाये रखने का काम कर रहा था क्योंकि हिंसा में संलग्न था।

अंगुलिमाल जब से गलत रास्ते पर पड़ा था, उसने सद्धर्म की कोई ज्ञानमयी वाणी सुनी ही नहीं थी। अब सुनी तो प्रभावित हो उठा। परंतु कितनी ही ज्ञानमयी वाणी क्यों न हो, किसी हत्यारे का हृदय परिवर्तन करना सरल नहीं होता। अंगुलिमाल पर जो गहरा प्रभाव पड़ा, वह उस धर्मवाणी के साथ-साथ भगवान के हृदय से नि:सृत करुणा की शीतल धारा का प्रभाव था। ऐसी शीतलता उसने कभी महसूस नहीं की थी। उसका क्रोध शांत हुआ, उसका अहंकार टूटा, उसका होश जागा। सारे अस्त्र-शस्त्र समीप के प्रपात, कंदरा और नाले में फेंक कर वह श्रद्धा-विभोर हो भगवान का अनुगामी हो गया। भाग्यशाली था, भगवान के हाथों उसे प्रव्रज्या

मिली। वह शांत चित्त हो, भगवान के साथ श्रावस्ती के जेतवन विहार में चला आया।

दोपहर का समय था। विहार के आंगन में भिक्षु संघ के साथ भिक्षु अंगुलिमाल बैठा था। राजा प्रसेनजित डाकू अंगुलिमाल का खात्मा करने के लिए पांच सौ सशस्त्र घुड़सवार सैनिकों के साथ उस रास्ते से गुजर रहा था जहां भगवान का जेतवन विहार था। सोचा उन्हें नमस्कार करके उनका आशीर्वाद लेता चलूं। वह भगवान से मिलने विहार में आया और उसने अपने सैनिक अभियान का कारण प्रज्ञापित किया। तब भगवान ने पूछ लिया – महाराज, यदि आप अंगुलिमाल को केश श्मश्रु मुँड़ा, काषाय वस्त्र पहन, घर से बेघर हो प्रव्रजित हुआ देखें और देखें कि अब वह प्राणी-हिंसा से विरत हो चुका है, चोरी से विरत हो चुका है, झूठ बोलने से विरत हो चुका है, एकाहारी है, ब्रह्मचारी है, शीलवान है, कल्याणधर्मा है, तो आप उसके साथ कैसा बर्ताव करेंगे?

"मैं उसे नमन करूंगा। यथा-आवश्यक दान दूंगा और धर्मपूर्वक उसकी सुरक्षा करूंगा। परंतु भंते, ऐसे पापी के भाग्य में शील, संयम का जीवन कहां बदा है?"

पास बैठे हुए भिक्षु अंगुलिमाल की ओर संकेत करते हुए भगवान ने कहा – महाराज, यह है अंगुलिमाल।

यह सुन कर राजा प्रसेनजित भयभीत हुआ, प्रकंपित हुआ, स्तब्ध हुआ; डर के मारे उसके रोंगटे खड़े हो गये।

भगवान ने उसे आश्वासन-भरे शब्दों में कहा – महाराज, अब आपको इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

अंगुलिमाल बदल चुका था। पुरुष-दम्य-सारथि द्वारा उसका दमन हो चुका था, उसके भीतर के दानव का दमन हो चुका था। अंगुलिमाल स्रोतापन्न हो चुका था। अनार्य से आर्य बन चुका था।

उस समय प्रसेनजित के मुँह से उद्गार के जो शब्द निकले, वह इस धर्ममय दमन की साश्चर्य स्वीकृति थी। दंडधारी शासन की तुलना में दंड-विहीन धर्म-शासन की महानता की स्वीकृति थी।

उसने कहा –

अच्छरियं, भन्ते, अब्भुतं भन्ते – आश्चर्य है भंते, अद्भुत है भंते!

यावञ्चिदं, भन्ते, भगवा अदन्तानं दमेता, असन्तानं समेता, अपरिनिब्बुतानं परिनिब्बापेता।

– कैसे भंते, भगवान अदांतों को दमन करते हैं, अशांतों का शमन करते हैं, अपरिनिर्वृत्तों को परिनिर्वाण कराते हैं।

यं हि मयं, भन्ते, नासक्खिम्हा दण्डेनपि सत्थेनपि दमेतुं, सो भगवता अदण्डेन असत्थेनेव दन्तो।

(म० नि० २.३५१, अङ्गुलिमालसुत्त)

– भंते, जिसको हम दंड से भी, शस्त्र से भी सबक नहीं सिखा सके; भगवान ने बिना दंड के, बिना शस्त्र के उसका दमन कर दिया।

कितना कल्याणकारी दमन हुआ, कितना अद्भुत हृदय परिवर्तन हुआ!

एक दिन भिक्षु अङ्गुलिमाल भिक्षाटन के लिए गये, तो किसी गर्भिणी गृहिणी को अत्यंत पीड़ा से तड़पते देखा। गर्भ के साथ-साथ गर्भिणी का जीवन भी खतरे में था। निर्दयतापूर्वक लोगों की हत्या करने वाले कठोर हृदय अंगुलिमाल का अंतस करुणा से भर गया। उसने विहार लौट कर भगवान को गर्भिणी की दयनीय दशा कह सुनायी। भगवान ने उसे परामर्श दिया कि वह उस दुखियारी गर्भिणी के पास जाकर सत्य-क्रिया करे। इस सत्य की घोषणा करे कि जब से मेरा जन्म हुआ है, मैंने जानबूझ कर किसी प्राणी का वध नहीं किया। इस सत्य वचन के प्रभाव से तेरा मंगल हो, तेरे गर्भ का मंगल हो।

यह सुन कर अंगुलिमाल चौंका। भगवान उसे यह क्या आदेश दे रहे हैं? यह तो सत्य-क्रिया नहीं होगी। जानबूझ कर झूठ बोलना होगा।

इस पर भगवान ने उसे प्यार से समझाया। स्रोतापन्न होने पर अंगुलिमाल का नया जन्म हो गया है। आर्यजीवन में जन्म हो गया है। पहले वह अनार्य था, अब आर्य हो गया है। उसके भीतर का अनार्य मर चुका है। अब वह आर्य अंगुलिमाल है। इस आर्यजन्म के बाद उसने कोई हत्या नहीं की है, यही सत्य- क्रिया करनी है।

अंगुलिमाल ने यही सत्य-क्रिया की। दुखियारी गर्भिणी और उसके गर्भ का मंगल हुआ।

भगवान ने बिना अस्त्र-शस्त्र के अंगुलिमाल के भीतर के अनार्य का वध कर दिया, जिससे कि उसके भीतर के आर्य का जन्म हुआ। उसका उद्धार हुआ, लोगों का उद्धार हुआ। धरती का भार उतरा। अनुत्तर सारथि का यही पुरुष-दमन था, जो सब प्रकार से कल्याणकारी था।

अंगुलिमाल ने मुक्ति के हर्ष-उद्गार प्रकट करते हुए कहा –

दण्डेनेके दमयन्ति, अङ्कुसेभि कसाहि च।
अदण्डेन असत्थेन, अहं दन्तोम्हि तादिना॥

(थेरगा० ८७८, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– कोई-कोई दंड से, अंकुश से या चाबुक से दमन करते हैं। मैं बिना दंड और बिना शस्त्र के ही बुद्ध द्वारा दमित हूं।

और इस कल्याणकारी दमन का ऐसा सुपरिणाम भोग रहा हूं कि –

सुखं सयामि ठायामि, सुखं कप्पेमि जीवितं।
अहत्थपासो मारस्स, अहो सत्थानुकम्पितो॥

(थेरगा० ८८८, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– अहो, मैं शास्ता से अनुकंपित हुआ। अब सुख से सोता हूं। सुख से उठता हूं। मार की पहुँच के बाहर सुख का जीवन जीता हूं।

शस्त्रों से दमन किये जाने पर क्या कभी किसी को ऐसी सुखद अनुभूति हो सकती है?

नालागिरि

देवदत्त भगवान का ममेरा भाई था। सम्यक संबोधि प्राप्त कर जब भगवान पहली बार कपिलवस्तु गये, तो लौटते समय कुछ शाक्य राजकुमारों के साथ देवदत्त भी भगवान के पास प्रव्रजित हुआ। वह मुक्तिदायिनी विपश्यना का यथोचित अभ्यास न कर सका, परंतु ध्यान समापत्तियों में आगे बढ़ा। इस अभ्यास द्वारा उसने अनेक प्रकार के ऋद्धिबल हासिल किये। देवदत्त की महत्वाकांक्षाएं बढ़ीं। वह भगवान के स्थान पर भिक्षुसंघ का प्रमुख बनने के लिए लालायित हुआ, परंतु इसमें सफलता प्राप्त होते न देख उसने भगवान की हत्या करवाने का पापमय संकल्प किया। उसने राजकुमार अजातशत्रु को अपने ऋद्धिबल से प्रभावित कर रखा था। उसे अपने पिता बिंबिसार को मार कर गद्दी पर बैठने के लिए प्रोत्साहित किया और भगवान बुद्ध की हत्या करवा कर स्वयं भिक्षुसंघ का प्रमुख बन सकने की कुयोजना में सहयोग देने की मंत्रणा दी। इस गर्हित कार्य के लिए अजातशत्रु ने कुछ धनुषधारी सैनिक नियुक्त किये, पर वे सफल नहीं हुए। तब देवदत्त ने गृद्धकूट पर्वत पर चढ़ते हुए भगवान बुद्ध पर स्वयं एक विशाल शिलाखंड लुढ़काने का दुष्कर्म किया, परंतु भगवान इससे भी बच गये। तब उसने उनकी हत्या की एक और योजना बनायी। वह राजा की हस्तिशाला के हस्तिपालकों के पास गया। उसने उन्हें अधिक वेतन और ऊंचे ओहदे दिलवाने का आश्वासन दिया। राज्य कर्मचारी जानते थे कि अजातशत्रु पर देवदत्त का पूरा-पूरा प्रभाव है। अतः वे उसकी बातों में आ गये। उन दिनों हस्तिशाला में नालागिरि नाम का एक महादुर्धर्ष, प्रमत्त और बलशाली हाथी था। वह स्वभाव से मनुष्यघातक था। अतः उसे बांध कर रखा जाता था। देवदत्त ने हस्तिपालकों को इसके लिए राजी कर लिया कि जब बुद्ध शहर में भिक्षाटन के लिए निकलें, तब जिस गली में वे चारिका कर रहे हों, उस पर इस प्रमत्त हाथी को छोड़ दिया जाय, ताकि वह भगवान को कुचल कर मार दे।

हस्तिपालकों ने देवदत्त के परामर्श का पालन किया। जब भगवान भिक्षाटन के लिए निकले, तब उस सड़क पर क्रुद्ध नालागिरि को छोड़ दिया गया। वह सूंड़ उठाये चिंघाड़ता हुआ और दोनों कान फड़फड़ाता हुआ भगवान की ओर दौड़ चला। सड़क पर के सारे लोग भयभीत होकर अपनी-अपनी जान बचाने के लिए आसपास के घरों में घुस गये। भिक्षुओं ने भगवान को भी सड़क से हट जाने का निवेदन किया, परंतु भगवान निश्चल, निष्कंप, शांत-चित्त से सड़क पर आगे बढ़ते गये। भगवान अभय थे। पूरी तरह आश्वस्त थे कि किसी बाहरी आक्रमण से सम्यक संबुद्ध का प्राणांत नहीं हो सकता।

अट्ठानमेतं, भिक्खवे, अनवकासो, यं परूपक्कमेन तथागतं जीविता वोरोपेय्य।

(चूळव० ३४२, नाळागिरिपेसन)

– यह संभव नहीं, भिक्षुओ, इसका अवकाश नहीं कि किसी बाहरी आक्रमण से तथागत के जीवन का अंत हो।

भगवान आगे बढ़े जा रहे थे, आगे बढ़े जा रहे थे। क्रुद्ध हाथी उनके समीप आते जा रहा था, समीप आते जा रहा था। वह चिंघाड़ रहा था, सूंड़ उठाये कान फड़फड़ा रहा था। क्रुद्ध था, अतः स्पष्ट ही बड़ा व्याकुल था, बड़ा दुखियारा था। उस व्याकुल प्राणी को शांत, सुखी करने के लिए भगवान के हृदय से करुणा का फौव्वारा छूटा। क्रुद्ध कुंजर पर विपुल मैत्री की अजस्र शीतल धारा गिरने लगी। जैसे-जैसे मैत्री की तरंगें प्रमत्त हाथी को छूने लगीं, वैसे-वैसे उसका क्रोध दूर होने लगा, मतवालापन हटने लगा। वह शांत होने लगा। भगवान के समीप पहुँच कर उसने अपनी सूंड़ नीची कर ली और उनके सामने घुटने टेक दिये। भगवान ने वात्सल्यभाव से अपनी हथेली से उसका कुंभ थपथपाया। प्रमत्त, प्रक्रुद्ध कुंजर भगवान की मैत्री-तरंगों से अभिषिक्त होकर उनकी वात्सल्य रस भरी हथेली के पावन स्पर्श से पुलकित हो उठा। उसने भगवान के पांव के पास की धरती की धूल अपनी सूंड़ से उठायी और उसे अपने सिर पर बिखराता हुआ उठ खड़ा हुआ। वह महाकारुणिक भगवान के मुखमंडल को निहारता हुआ बिना मुड़े

पीछे हटने लगा। यों तब तक पीछे की ओर चलता रहा, जब तक कि उसे भगवान के मुखमंडल का दर्शन होता रहा।

कहते हैं भगवान के शरीर में दस हाथियों का बल था। वह उस शारीरिक बल का प्रयोग करते अथवा स्वयं क्रुद्ध होकर किसी अस्त्र-शस्त्र से उस पशु का वध कर देते, तो यह दमन तो होता, पर कल्याणकारी दमन नहीं होता। धर्ममय दमन नहीं होता। दमन धर्म के शस्त्र से हुआ, तभी जीत सही जीत हुई।

अक्कोधेन जिने कोधं – क्रोध को अक्रोध से जीते,

(ध० प० २२३, कोधवग्ग)

यही धर्म है। इसी धर्म-बल से वह नाग यानी हाथी जीता गया, ठीक वैसे ही जैसे डाकू अंगुलिमाल जीता गया, यक्ष आळवक जीता गया। इसीलिए यह ठीक ही कहा गया है –

दण्डेनेके दमयन्ति, अङ्कुसेहि कसाहि च।
अदण्डेन असत्थेन, नागो दन्तो महेसिना॥

(चूळव० ३४२, नाळागिरिपेसन)

– कोई-कोई दंड से या अंकुश से या चाबुक से दमन करते हैं। महर्षि ने बिना दंड के, बिना अस्त्र-शस्त्र के हाथी का दमन कर दिया। इस प्रकार उस मदमत्त नाळागिरि हाथी को –

मेत्तम्बुसेकविधिना जितवा मुनिन्दो। (जयमङ्गल-अट्ठगाथा)

– भगवान मुनींद्र ने मैत्री-रूपी जल की वर्षा करके जीत लिया, जो कि कल्याणकारी जीत हुई।

सच्चक

वैशाली में सच्चक नाम का परिव्राजक बड़ा वाद-विवादी था। वह अपने तर्क- कुतर्क के लिए बहुत प्रसिद्ध था। उसे अपनी तार्किक बुद्धि का बड़ा अभिमान था। वह बड़े गर्व के साथ कहा करता था कि मैं ऐसे किसी श्रमण या ब्राह्मण को नहीं देखता; यहां तक कि अपने को अरहंत, सम्यक

संबुद्ध कहने वाले किसी श्रमण को भी नहीं देखता, जो उसके साथ विवाद करके कंपित-प्रकंपित न हो उठे और जिसकी कांख से पसीना न छूटने लगे। वह बड़ी अहंकारभरी वाणी में कहा करता था कि मनुष्य तो मनुष्य, यदि मैं अचेतन खंभे से भी शास्त्रार्थ करूं, वाद-विवाद करूं, तो वह भी मेरे तर्कों से कंपायमान हो उठे।

ऐसा महादंभी, तार्किक सच्चक एक बार भगवान से विवाद करने आया। उस समय लिच्छवी प्रजातंत्र के राजकीय संसद भवन में पांच सौ लिच्छवी किसी राजकार्य से एकत्र हुए थे। उसने उन सबको आमंत्रित करते हुए कहा कि आज मैं श्रमण गौतम से विवाद करूंगा और उसे हरा कर प्रताड़ित करूंगा। उसे इसी प्रकार घुमाऊंगा, फिराऊंगा जैसे कि कोई बलवान व्यक्ति किसी बड़े बालों वाले भेड़ को बालों से पकड़ कर घुमाये, फिराये।

यों भरपूर अहंकार, अभिमान से ऐंठता हुआ सच्चक लिच्छवीमंडली के साथ भगवान से विवाद करने आ पहुँचा। वह इस मत को मानने वाला था कि शरीर और चित्त ही आत्मा है अर्थात वे 'मैं' है, 'मेरे' हैं, जबकि भगवान अपने शिष्यों को अनुभव करवाते थे कि वे दोनों अनित्यधर्मा हैं, दु:खधर्मा हैं, इस कारण अनात्मधर्मा हैं। यानी 'मैं', 'मेरे' और 'मेरी आत्मा' नहीं हैं। इनसे तादात्म्य स्थापित करना गलत है, हानिकारक है। वार्तालाप के आरंभ में ही भगवान ने विवादी सच्चक से यह स्वीकृत करवा लिया कि कोशलेश प्रसेनजित या मगधेश अजातशत्रु अपने-अपने अधीनस्थ राज्य में जिसे चाहें मरवा सकते हैं, जलवा सकते हैं, देश से निकलवा सकते हैं क्योंकि उन राज्यों के लोगों पर उनका अधिकार है, आधिपत्य है, प्रभुत्व है, उनकी मिल्कियत है।

इसी को आधार मान कर भगवान ने सच्चक से पूछा – तुम्हारी मान्यता के अनुसार यदि यह शरीर 'तू' है, 'तेरा' है, 'तेरी आत्मा' है तो इस पर तेरा अधिकार होगा, आधिपत्य होगा, प्रभुत्व होगा, मिल्कियत होगी। यदि ऐसा है, तो क्या तू इस भौतिक शरीर को अपने वश में रख

सकता है? इसे चाहे जैसा बना सकता है? इसे चाहे जैसा बनाये रख सकता है?

भगवान के एक ही प्रश्न में सच्चक निरुत्तर हो गया। शरीर पर कहां अधिकार? कैसा अधिकार? जो स्पष्ट ही भंगुर है, अनित्य है, परिवर्तनशील है, उसे कोई चाहे कि वह नित्य, शाश्वत, ध्रुव बना रहे, तो यह कहां शक्य है? कहां संभव है? तो यह 'मैं' कैसे हुआ, 'मेरा' कैसे हुआ, 'मेरी आत्मा' कैसे हुई?

जो अनित्य है, नश्वर है, परिवर्तनशील स्वभाववाला है, वह दुःखद परिणाम ही देने वाला है। यदि इस पर अपना अधिकार हो, आधिपत्य हो, प्रभुत्व हो, इस पर अपनी मिल्कियत हो तो इसके रहते दुःख आने न दें। आये तो दुःख को हटा दें, दुःख को दूर कर दें। पर ऐसा कोई कहां कर पाता है? अतः यह 'मैं', 'मेरा', 'मेरी आत्मा' कैसे हुई?

यही सच्चाई चित्त की है, चित्त के चार खंड – वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान की है। वे भी 'मैं', 'मेरे', 'मेरी आत्मा' कैसे हुए?

भगवान के इस तथ्यपूर्ण कथन का सच्चक कैसे विरोध करता? उसे भगवान की बात स्वीकार करनी पड़ी। वह बड़ा लज्जित हुआ। उसका सिर नीचा हुआ। उसके शरीर का उत्तरासंग यानी उपरना छूट कर जमीन पर गिर पड़ा। जो विरोधी को हरा कर उसके कांख से पसीना छुटवा देने का दम भरता था, स्वयं उसके माथे पर पसीने की बूंदे छलक आयीं। भगवान ने अत्यंत शांत चित्त से बिना किसी तनाव के सारा वार्त्तालाप किया। अतः उनके शरीर पर पसीने का नामोनिशान नहीं था। विवाद के लिए उन्हें कोई बौद्धिक तनाव भी नहीं करना पड़ा। नाम और रूप का अनित्य, दुःख और अनात्म होना भगवान के लिए काल्पनिक दार्शनिक मान्यता नहीं थी। चिंतन-मनन द्वारा माना हुआ तथ्य नहीं था। यह उनके द्वारा स्वानुभूत तथ्य था। भगवान ने समझाया कि वे अपने शिष्यों को किसी मिथ्या दार्शनिक मान्यता में नहीं उलझाते हैं। उन्हें सच्चाई का प्रत्यक्ष अनुभव कराते हैं।

इध, अग्गिवेस्सन, मम सावको यं किञ्चि रूपं... सब्बं रूपं 'नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता'ति एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सति।

(म० नि० १.३६१, चूळसच्चकसुत्त)

– हे अग्निवेश, यहां मेरे श्रावक जो रूप है, वह सब का सब 'न मेरा है, न मैं हूं, न मेरी आत्मा है', इस सच्चाई को यथाभूत, जैसी है वैसी, स्वयं सम्यक प्रज्ञा द्वारा अनुभव करते हैं।

इसी प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को भी सम्यक प्रज्ञा द्वारा स्वयं अनुभव करते हैं।

जब सच्चाई अपनी अनुभूति पर उतर जाय, तो संदेह कहां रहे? वाद-विवाद के लिए स्थान कहां रहे? प्रत्यक्ष को स्वीकार करने में क्या कठिनाई हो भला? हाथ कंगन को आरसी क्या? जहां कोरी काल्पनिक, दार्शनिक मान्यताओं का थूक बिलोवन हो, वहां संदेह होता है, वाद-विवाद होता है, तू-तू, मैं-मैं होती है और परिणामस्वरूप हानि-ही-हानि होती है।

अनुभूतिजन्य धर्म के क्षेत्र में वाद-विवाद नहीं हुआ करता। वाद-विवाद टिक भी नहीं सकता। भगवान मिथ्या तार्किक विवाद में नहीं उलझते थे। अत्यंत मैत्रीपूर्ण चित्त से धर्म का अनुभवगम्य सत्य ही प्रकाशित करते थे। विवादी का विवाद स्वतः धराशायी हो जाता था। विवादी का गर्व अपने आप चूर-चूर हो जाता था। उसका होश जागता था और इस प्रकार उसका कल्याण सधता था। और यही हुआ। होश में आये हुए परिव्राजक सच्चक ने कहा –

मयमेव, भो गोतम, धंसी,

– हे गौतम, हम ही ध्वंसी हैं, धृष्ट हैं, अभिमान में चूर होकर अपना ध्वंस करने वाले हैं।

मयं पगब्बा – हम ही प्रगल्भ हैं, उद्धत हैं, उद्दंड हैं, अभिमानी हैं,

ये मयं भवन्तं गोतमं वादेन वादं आसादेतब्बं अमञ्ञिम्ह।

(म० नि० १.३६२, चूळसच्चकसुत्त)

– जो कि हमने आप गौतम को वाद-विवाद करने का मजा चखाना चाहा।

और फिर कहा –

हे गौतम, उन्मुक्त हाथी से टकरा कर, लड़ कर किसी का कल्याण हो भी जाय; घोर विषधारी सर्प से टकरा कर, लड़ कर किसी का कल्याण हो भी जाय; प्रज्वलित अग्निपुंज से टकरा कर, लड़ कर किसी का कल्याण हो भी जाय; परंतु आप गौतम से टकरा कर, लड़ कर किसी का कल्याण नहीं हो सकता।

कोई चाहे कि भगवान से वाद-विवाद करके उन्हें हरा दे, उन्हें हानि पहुँचा दे, तो उसका यह मकसद कभी पूरा नहीं होता। वह सर्वथा असफल ही होता है।

समुद्दं विसकुम्भेन, यो मञ्ञेय्य पदूसितुं।
न सो तेन पदूसेय्य, भेस्मा हि उदधी महा॥

– जो यह माने कि विषभरे घड़े से वह समुद्र को प्रदूषित कर देगा तो उससे समुद्र प्रदूषित नहीं हो सकता, क्योंकि समुद्र महान है।

एवमेव तथागतं, यो वादेनुपहिंसति।
समग्गतं सन्तचित्तं, वादो तम्हि न रूहति॥

(चूळव० ३५०, सङ्घभेदकथा)

– इसी प्रकार जो तथागत को वाद-विवाद से आघातित करना चाहे, वह समग्र रूप से शांत-चित्त रहने वाले तथागत पर कोई वाद आरोपित नहीं कर सकता।

कमल-पत्र की भांति निःस्पृह, निस्संग रहने वाले भगवान को किसी का विवाद स्पर्श ही नहीं कर पाता, उन्हें आघातित करना तो दूर रहा। यथाभूत अनुभूत सत्य पर प्रतिष्ठित हो, भगवान सदा अडिग, अचल रहते थे। उनका चित्त भी कभी प्रकंपित नहीं होता था, शरीर के प्रकंपित होने की तो बात ही क्या?

परंतु भाग्यशाली विवादी भगवान से टकरा कर अंततः अपना कल्याण ही साध लेता था। अहंकारी का अहंकार दूर हो जाय, तो उसके लिए इससे बढ़ कर और क्या कल्याण हो? भगवान दोषी के दूषण का दमन कर उसका कल्याण ही करते थे।

क्योंकि वे –

क्रोधी के क्रोध का दमन क्रोध से नहीं, अक्रोध से करते थे।

द्वेषी के द्वेष का दमन द्वेष से नहीं, मैत्री और करुणा से करते थे।

अशांत की अशांति का दमन अशांति से नहीं, शांति से करते थे।

मूढ़ के मोह का दमन मोह से नहीं, प्रज्ञा से करते थे।

ऐसा करते हुए विरोधी के विरोध को नष्ट कर देते थे, विरोधी को नहीं। उसका तो कल्याण ही सधता था। वह अभिमान से मुक्त होकर, अपने कल्याण को महसूस करता हुआ भगवान की प्रशंसा में कह उठता था –

अच्छरियं भो गोतम, अब्भुतं भो गोतम – आश्चर्य है, हे गौतम, अद्भुत है, हे गौतम!

यावञ्चिदं भोतो गोतमस्स एवं आसज्ज आसज्ज वुच्चमानस्स, उपनीतेहि वचनप्पथेहि समुदाचरियमानस्स, छविवण्णो चेव परियोदायति, मुखवण्णो च विप्पसीदति।

– ऐसे आघात करने वाले वचनों के प्रयोग किये जाने पर भी आप गौतम के मुख की कांति और शांतिमयी निर्मलता बनी रहती है।

यथा तं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स – जैसे कि आप अरहंत सम्यक संबुद्ध की।

(म० नि० १.३८९, महासच्चकसुत्त)

भगवान सचमुच अरहंत सम्यक संबुद्ध थे। इसीलिए ऐसी शांत, स्वच्छ और प्रसन्न मुखमुद्रा से किसी दोषी के दोष का दमन करते थे।

उपालि

उन दिनों एक संप्रदाय के आचार्य और उनके अनुयायियों की यह गलत मान्यता थी कि कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में कायिक कर्म ही प्रमुख एवं प्रधान होते हैं। पापों के लिए जितने कायिक कर्म दोषी होते हैं उतने वाचिक और मानसिक कर्म नहीं। इसी कारण वे पापों की निर्जरा के लिए कायदंडन को ही सर्वाधिक महत्व देते थे जबकि भगवान कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में मानसिक कर्मों को प्रमुख एवं प्रधान मानते थे और इसी कारण पाप-कर्मों से मुक्त होने के लिए मानसिक सुधार को महत्त्व देते थे।

कायिक दंड को सर्वाधिक महत्व देने वाले संप्रदाय के आचार्य यह कह कर भगवान की खिल्ली उड़ाते थे कि–

किं हि सोभति छवो मनोदण्डो इमस्स एवं ओळारिकस्स कायदण्डस्स उपनिधाय!

– यह मुआ (मुर्दा) मनोदंड (मनोकर्म), इस महान कायदंड (कायकर्म) के सामने क्या शोभित होता है! क्या महत्त्व रखता है!

अथ खो कायदण्डोव महासावज्जतरो पापस्स कम्मस्स किरियाय पापस्स कम्मस्स पवत्तिया,

– पाप कर्म करने के लिए, पाप कर्मों की प्रवृत्ति के लिए यह जो कायदंड (कायकर्म) है, वही महादोषी है।

नो तथा वचीदण्डो, नो तथा मनोदण्डो। (म० नि० २.५८, उपालिसुत्त)

– न कि वाचिकदंड (वाचिककर्म) तथा न ही मनोदंड (मनोकर्म)।

उस संप्रदाय वाले कर्म के स्थान पर दंड शब्द का प्रयोग करना उचित समझते थे। उस संप्रदाय के आचार्य का एक प्रमुख शिष्य था – नालंदा का श्रेष्ठि उपालि। जब उसने यह सुना कि भगवान बुद्ध कायिक कर्म की अपेक्षा मानसिक कर्म को अधिक महत्त्व देते हैं, तो वह उनसे विवाद करने के लिए आतुर हो उठा। उसे भी महातार्किक सच्चक की भांति यह गर्व था कि वह

जिससे भी विवाद करेगा, उसे हरा कर वैसे ही प्रताड़ित कर देगा, जैसे कि कोई बलवान व्यक्ति किसी बालक को कान से पकड़ कर हिलाये- डुलाये। उपालि के आचार्य ने भी उसे विवाद के लिए प्रोत्साहित किया। यद्यपि उसके किसी अन्य शिष्य ने उपालि को भेजना उचित नहीं समझा, क्योंकि उपालि इस संप्रदाय का प्रमुख गृहस्थ दायक था और उसे इस बात का डर था कि–

समणो हि, भन्ते, गोतमो मायावी – भंते, श्रमण गौतम मायावी है।

आवट्टनिं मायं जानाति – मति पलटने वाली आवर्तनी माया जानता है।

याय अञ्ञतित्थियानं सावके आवट्टेतीति। (म० नि० २.६०, उपालिसुत्त)

– वह अन्य संप्रदाय के श्रावकों को अपनी ओर पलट लेता है।

परंतु इस आचार्य को उपालि की विवाद- कुशलता पर बहुत भरोसा था। उसने यह विश्वास प्रकट किया कि इस बात की कतई संभावना नहीं है कि गृहपति उपालि श्रमण गौतम का शिष्य बन जाय, बल्कि अधिक संभावना इसी बात की है कि श्रमण गौतम गृहपति उपालि का शिष्य बन जाय। अपने आचार्य के मुख से ऐसे प्रशंसा और प्रोत्साहन-भरे वचन सुन कर उपालि गर्व से और अधिक फूल उठा और अत्यंत उत्साहित हो भगवान से वाद-विवाद करने जा पहुँचा।

भगवान अक्सर विवाद में उलझना नहीं चाहते थे, क्योंकि इस प्रकार के विवादी लोग बहुधा सच्चाई को समझ जाने पर भी अपने मत की मान्यता को पकड़े हुए हंगामा करते रहते थे और महज विवाद के लिए विवाद को चलाते रहने के लिए बात का बतंगड़ करते रहते थे। वे झगड़ते रहने के आदी हो गये थे। इसलिए उपालि से वार्त्तालाप करने के पूर्व ही भगवान ने उसके सामने एक शर्त रखी–

सचे खो, त्वं गहपति, सच्चे पतिट्ठाय मन्तेय्यासि,

– हे गृहपति, यदि तू सत्य में प्रतिष्ठित होकर मुझसे मंत्रणा करे,

सिया नो एत्थ कथासल्लापो – तो हमारा वार्त्तालाप हो।

(म० नि० २.६१, उपालिसुत्त)

उपालि ने यह शर्त स्वीकार की और वार्त्तालाप शुरू हुआ। भगवान ने उससे पहला ही प्रश्न पूछा –

– हे गृहपति, तुम्हारे संप्रदाय का एक ऐसा श्रमण हो जो किसी रोग से अत्यंत पीड़ित हो, परंतु उसने केवल गर्म जल पीने का व्रत ले रखा हो, जबकि उस रोग के उचित उपचार के लिए उसे शीतल जल पीना आवश्यक हो। परंतु वह अपने व्रत के कारण शीतल जल न पीकर उस रोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाय, तो तुम ऐसे व्यक्ति का पुनर्जन्म कहां होना मानते हो?

उपालि ने कहा – मनोसत्त्व नामक देवों के लोक में।

भगवान ने पूछा – यह किस कारण से भला?

उपालि ने उत्तर दिया कि उसने अपने मनोसंकल्प को दृढ़ रखते हुए प्राण त्यागे हैं, इसलिए।

उपालि अपने द्वारा दिये गये उत्तर से ही पराजित हो गया। उसने अनजाने और अनचाहे मन की महत्ता स्वीकार कर ली। भगवान इसी प्रकार कुछ और प्रश्न करते गये और हर प्रश्न के उत्तर में उपालि को मन की महत्ता स्वीकारनी पड़ी। उसने सत्य में स्थित होकर वार्त्तालाप करने का वचन दिया था। स्वयं उसी के उत्तरों से, उसके मान्य सिद्धांतों के विपरीत सत्य सिद्ध हो रहा था। अतः उसने अपनी पराजय स्वीकार की, उसका सारा अहंकार धराशायी हो गया और उसने अत्यंत विनम्र भाव से यह कहा कि पहले प्रश्न की उपमा सुन कर ही मैं संतुष्ट तथा प्रसन्न हो गया था। पर मेरे मन में भगवान की वाणी और अधिक सुनने का लोभ जागा। इसलिए उनकी ओर से अधिक उपमाएं और उदाहरण सुन सकने के लिए मैंने प्रतिवादी का जामा पहने रखा।

वह भगवान की वाणी से इतना आश्वस्त हुआ कि उसने वहीं भगवान का अंजलिवद्ध श्रावक होने की मंगल घोषणा की। भगवान का लक्ष्य किसी प्रसिद्ध व्यक्ति को अपना शिष्य वना लेना नहीं था। गलत रास्ते पड़े हुए व्यक्ति को सही रास्ते ले आना ही उन्हें अभीष्ट था। अतः उन्होंने उपालि से कहा –

अनुविच्चकारं खो, गहपति, करोहि – हे गृहपति, जो (निर्णय) कर रहे हो, उसे सोच समझ कर करो।

अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होति।

– तुम्हारे जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति के लिए सोच समझ कर (निर्णय) करना ही अच्छा होता है।

गृहपति उपालि नालंदा का प्रसिद्ध धनपति था और अपने संप्रदाय के आचार्य का प्रमुख श्रावक था। उसने जब भगवान की यह निस्संग, निःस्पृह वाणी सुनी तो और अधिक प्रभावित हुआ और भगवान से बोला –

मं हि, भन्ते, अञ्ञतित्थिया सावकं लभित्वा – भंते, अन्य सांप्रदायिक लोग मुझे श्रावक पाकर,

केवलकप्पं नाळन्दं पटाकं परिहरेय्युं –

– सारी नालंदा में (जुलूस निकाल कर) पताका फहराते और तुमुल-नाद में यह घोषणा करते कि –

उपालि अम्हाकं गहपति सावकत्तं उपगतो। (म० नि० २.६७, उपालिसुत्त)

– उपालि गृहपति हमारा श्रावक हो गया है।

जबकि दूसरी ओर आप मुझे सोच समझ कर निर्णय करने का आदेश दे रहे हैं। मैं यह सुन कर और अधिक संतुष्ट तथा प्रसन्न हुआ हूं, और अधिक श्रद्धालु हुआ हूं।

इस पर भगवान ने उपालि से कहा –

तुम्हारा घर दीर्घकाल से उस संप्रदाय के श्रमणों के लिए प्याऊ की तरह खुला रहता था। अब उनको दी जाने वाली भिक्षा कहीं बंद न हो जाय।

उपालि भगवान की यह उदात्त, उदार वाणी सुन कर और अधिक संतुष्ट तथा प्रसन्न हुआ और अधिक श्रद्धालु होकर घर लौटा।

उसके पूर्व आचार्य ने जब सुना कि उपालि भगवान बुद्ध का श्रावक हो गया है तो वह उसकी भर्त्सना करते हुए बोला –

उम्मत्तोसि त्वं, गहपति - अरे गृहपति, तू उन्मत्त हो गया है, पागल हो गया है।

दत्तोसि त्वं, गहपति - अरे गृहपति, तू मूढ़ हो गया है, जड़ बुद्धि हो गया है।

गया तो था श्रमण गौतम को अपना शागिर्द बनाने के लिए और लौटा है सब कुछ लुटा कर।

आवट्टोसि खो त्वं, गहपति, समणेन गोतमेन आवट्टनिया मायायाति।

(म० नि० २.७३, उपालिसुत्त)

- श्रमण गौतम की आवर्तनी माया ने तेरी मति पलट दी है।

इस लांछन पर उपालि का उत्तर पुरुष-दम्य-सारथि के कल्याणकारी दमन का मांगलिक उद्घोष था।

उपालि ने कहा -

भद्दिका, भन्ते, आवट्टनी माया - भद्र है भंते, यह आवर्तनी माया।

कल्याणी, भन्ते, आवट्टनी माया - कल्याणी है भंते, यह आवर्तनी माया।

पिया मे, भन्ते, ञातिसालोहिता इमाय आवट्टनिया आवट्टेय्युं।

- यदि मेरे प्रिय बंधु-बांधव भी इस आवर्तनी माया द्वारा पलट दिये जायँ तो,

पियानम्पि मे अस्स ञातिसालोहितानं दीघरत्तं हिताय सुखाय।

(म० नि० २.७४, उपालिसुत्त)

- यह आवर्तनी माया मेरे प्रिय बंधु- बांधवों के लिए चिरकाल तक हितसुखदायी होगी।

इसी प्रकार सारे क्षत्रिय, सारे ब्राह्मण, सारे वैश्य और सारे शूद्र; देव, मार, ब्रह्मा सहित सारे लोक; श्रमण, ब्राह्मण, राजा, प्रजा सहित सारा समाज इस आवर्तनी माया से पलट दिया जाय, तो यह उनके लिए चिरकाल तक हितसुखदायी होगी।

भगवान अविवादी थे। किसी से विवाद करने नहीं जाते थे। परंतु जब कोई विवाद पर उतारू होकर उनके पास आ ही जाता, तब उसे शुद्ध धर्म सिखाते हुए उसका दमन करते थे। उसके अहंकार का दमन करते थे। उसके अज्ञान का दमन करते थे। उसका कल्याण ही करते थे।

भगवान धर्मवादी थे

समणो खलु भो गोतमो धम्मवादी।

अतः धर्म को छोड़ कर अन्य निरर्थक बातों में न वे स्वयं उलझते थे और न औरों को उलझाते थे। दूसरी ओर पुरोहितगिरी करने वाले अनेक लोग अपने पुरखों द्वारा रचे गये शास्त्रों के पठन-पाठन में लगे रहते थे। स्वयं भी शास्त्र-वचन प्रमाण मानते हुए अंधविश्वास में उलझे रहते थे और अपने यजमानों को भी इसी में उलझाये रखते थे। उन्हें यही अभीष्ट था। ऐसे लोग शास्त्र-वचनों की अथवा उनके भाष्य और टीकाओं की भिन्न भिन्न व्याख्याओं को लेकर विवाद करते रहते थे। उनके लिए यह आजीविका का प्रश्न था, उनके गुजर-बसर का सवाल था। अतः उन्हें बार बार **पोराणं मन्तपदं इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय** (म० नि० २.४२७, चङ्कीसुत्त) की दुहाई देनी होती थी। उन शास्त्रों के आधार पर चातुर्वर्णी समाज-व्यवस्था और हिंसक यज्ञों की मिथ्या मान्यता को अंधविश्वास के खाद-पानी से पौष्टिक बल देते रहना उनके लिए आवश्यक था। दूसरी ओर भगवान **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त; १.३.६७, साळ्हसुत्त, १.४.१९३, भद्दियसुत्त) की गंभीर घोषणा करते हुए लोगों से कहते रहते थे कि किसी बात को महज इसलिए मत मान लो कि वह तुम्हारे धर्मशास्त्रों में लिखी है। वे सत्य को स्वयं अनुभूति पर उतारने का बल देते थे। भगवान द्वारा की गई यही उद्घोषणा भावी भारत के प्रबुद्ध संतों की वाणी में मुखरित हुई -

"लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।" अथवा

"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखन की देखी।"

'कागद की लेखी' में उलझन ही उलझन होती है, 'आंखों की देखी' में सुलझन ही सुलझन।

"मैं कहता सुलझावन वाली, तू क्यों रहा उलझाय रे?"

भगवान इन 'कागद की लेखी' वालों की बनावटी उलझनों को दूर करने के लिए 'आंखों की देखी' वाले यथाभूत ज्ञान- दर्शन पर बल देते थे। अतः शास्त्रों के आधार पर चल रहे विवाद भगवान की शिक्षा में अप्रासंगिक हो गये थे, निरर्थक हो गये थे, झूठे पड़ गये थे।

"पंडित वाद वदंते झूठा।"

अतः कोई शास्त्रज्ञ ऐसे झूठे विवाद करने के लिए भगवान के पास क्या लेने आता?

परंतु इन संप्रदायवादियों का पारस्परिक विवाद तो चलता ही रहता था।

विवाद का एक कारण और भी था। देश में भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं चल रही थीं, जो प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित न होकर अधिकांशतः उर्वर कल्पनाओं की उपज थीं, अथवा महज बौद्धिक ऊहापोह की। ऐसे लोग अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यता से आसक्त होकर परस्पर वाद-विवाद करते रहते थे।

दिट्ठिरागाभिनिवेसविनिबन्धपलिगेधपरियुट्ठानज्झ ओसानहेतु खो, ब्राह्मण, समणापि समणेहि विवदन्ति।

(अ० नि० १.२.३८, समचित्तवग्ग)

– दार्शनिक मान्यताओं के प्रति रागमय अभिनिवेश होने के कारण, उनके बंधनों में बँधे होने के कारण, उनके कीचड़ में धँसे होने के कारण, उनके गर्त में गड़े होने के कारण श्रमण भी श्रमणों के साथ विवाद करते हैं।

भगवान इस जंजाल में क्यों पड़ते भला? उनकी तो कोई दार्शनिक मान्यता थी नहीं। उनके लिए तो धर्म सांदृष्टिक हुआ था, प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा था। वे लोगों को भी उसे प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतारने की ही शिक्षा देते थे। इसीलिए उनका उपदेशित धर्म सत्य-धर्म कहलाता था; सद्धर्म कहलाता था। प्रत्यक्ष सत्य में विवाद को स्थान नहीं होता। उसे

शास्त्रवचन-प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। – हाथ कंगन को आरसी क्या?

प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित सत्य-धर्म सिखाने वाले ऐसे धर्मवादी से कोई क्या विवाद करता भला?

धम्मवादिनो च पन दुप्पटिमन्तिया भवन्ति।

(म० नि० २.४०१, अस्सलायनसुत्त)

– धम्मवादी से वाद करना दुष्कर है।

प्रसेनजित

अस्सी वर्ष की पकी हुई अवस्था में कोशलेश प्रसेनजित ने भगवान के बारे में अपने अनुभव प्रकट करते हुए कहा –

जब भगवान अनेक सौ लोगों की सभा को धर्मोपदेश देते हैं, तब सब मौन और शांत होकर सुनते हैं। किसी के खांसने तक की आवाज नहीं आती। सारी श्रोतामंडली अत्यंत मंत्रमुग्ध हो जाती है, सारी श्रोतापरिषद अत्यंत सुविनीत हो जाती है, भगवान सबको अपने वश में कर लेते हैं। उसे आश्चर्य होता था कि –

अदण्डेन वत किर, भो, असत्थेन एवं सुविनीता परिसा भविस्सतीति।

– बिना किसी डंडे या शस्त्र का उपयोग किये हुए यह परिषद कितनी सुविनीत कर ली गयी होती है और –

अपने जीवन के अनुभवों को प्रशस्ति-भरे शब्दों में उँडेलते हुए प्रसेनजित ने कहा –

न खो पनाहं, भन्ते, इतो बहिद्धा अञ्ञं एवं सुविनीतं परिसं समनुपस्सामि।

(म० नि० २.३७०, धम्मचेतियसुत्त)

– मैं इसे छोड़ कर अन्य कहीं ऐसी सुविनीत परिषद नहीं देखता।

उसने यह भी कहा कि –

कोई-कोई अनुभवी विवादी, प्रवादी ऐसे होते हैं, जो तर्क करते हुए, बाल की खाल खींचकर प्रतिपक्षी की दार्शनिक मान्यता की धज्जियां उड़ा देते हैं। ऐसे लोग अहंकार से भर-कर कहते हैं कि यदि श्रमण गौतम हमारे प्रदेश में आये, तो हम उससे ऐसे- ऐसे वाद-विवाद करेंगे, ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछेंगे! और जब भगवान वहां पहुँचते और धर्म देशना देते, तो वे इतने संतुष्ट, प्रसन्न हो जाते कि विवाद करने के लिए उन्हें कुछ सूझता ही नहीं।

न चेव भगवन्तं पञ्हं पुच्छन्ति – वे भगवान से प्रश्न भी नहीं पूछते।

कुतो वादं आरोपेस्सन्ति – वाद आरोपित करने की बात ही कहां?

अञ्ञदत्थु भगवतो सावका सम्पज्जन्ति। (म० नि० २.३७१, धम्मचेतियसुत्त)

– बल्कि वे भगवान के अनुगामी श्रावक ही बन जाते हैं।

ऐसा था भगवान का पुरुष-दम्य-सारथित्व जिसमें दोषी का दोष दूर करके ही उसका दमन किया जाता था। दोषी की कोई हानि नहीं होती थी। उसका तो कल्याण ही होता था। बाहर से आये हुए विवादी ही नहीं, उनके पास प्रव्रजित हुए भिक्षुओं में से भी कोई गलत काम करता, तो उसे मैत्री चित्त से सुधार कर ही वे उसका दमन करते थे।

जब कोई साधक भिक्षु भगवान की बतायी हुई विपश्यना विद्या का अभ्यास कर, आस्रवमुक्त अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर, परम विमुक्त अरहंत हो जाता, तो वह इसकी सूचना भगवान को देने आता था। परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता था कि कोई अहंकारी भिक्षु विमुक्त होने की मिथ्या घोषणा कर देता था। भगवान सच्चाई जान लेते थे। वे उसे सुधारने का ही काम करते थे।

ये पन ते भिक्खू, अधिमानेन अञ्ञं ब्याकंसु।

– जिन भिक्षुओं ने अधिमानवश मुक्ति की मिथ्या घोषणा की है;

तत्र, सुनक्खत्त, तथागतस्स एवं होति – हे सुनक्खत्त, उनके बारे में तथागत को ऐसा होता है–

धम्मं नेसं देसेस्सं – इन्हें धर्म का उपदेश दूंगा।

(म० नि० ३.५६, सुनक्खत्तसुत्त)

शुद्ध धर्म का उपदेश देकर ही भगवान दोषी का दोष दूर करते थे।

शल्यकर्त्ता

कोई शल्यकर्त्ता भिषक यानी सर्जन हो, तो रोगी की यथा आवश्यक सर्जरी करके, उसके शरीर का दूषित अंग काट कर दूर करता है। रोगी के फोड़े पर नश्तर लगाते हुए वह उसका भला ही चाहता है। भगवान ऐसे ही सर्जन थे। अत्यंत करुण चित्त, शल्यकर्त्ता, भिषक थे।

भिसक्को सल्लकत्तोति खो, सुनक्खत्त, तथागतस्सेतं अधिवचनं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स। (म० नि० ३.६५, सुनक्खत्तसुत्त)

– हे सुनक्षत्र! भिषक, शल्यकर्त्ता – ये तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध के ही नाम हैं।

कोई सर्जन रोगी की हत्या करने के लिए उस पर चाकू नहीं चलाता। उसे मरने से बचाने के लिए ही ऐसा करता है। भगवान भी दोषयुक्त लोगों को दोषमुक्त करने के लिए ही शल्यकर्त्ता का काम करते थे। उनकी हत्या करने के लिए नहीं।

कभी-कभी हत्या भी करते थे

परंतु कभी-कभी उन्हें रोगी की हत्या करने का भी निर्णय करना पड़ता था।

एक बार घोड़ों को दमन करने वाला केशी नामक सारथि भगवान से मिलने आया। भगवान ने उससे पूछ लिया कि वह घोड़ों का दमन कैसे करता है।

केशी ने कहा कि वह घोड़ों का दमन कोमलता से भी करता है, कठोरता से भी करता है और कभी-कभी कोमलता और कठोरता दोनों से करता है। परंतु जो घोड़ा कोमलता और कठोरता दोनों से ही नहीं सुधरता, उसे वह मार देता है, जिससे कि उसकी अश्व-दमन करने वाली आचार्य-परंपरा की बदनामी न हो।

केशी ने भगवान से पूछा कि आप लोगों का दमन किस प्रकार करते हैं?

भगवान ने केशी से कहा कि मैं भी लोगों का दमन कोमलता से करता हूं, कठोरता से करता हूं और कभी कोमलता और कठोरता, दोनों से करता हूं।

जो लोग काया, वाणी, चित्त के कर्मों में सच्चरित्र थे, भगवान उन्हें सच्चरित्रता के गुण और शुभ परिणाम बता कर प्रोत्साहन देते हुए, उनके साथ कोमलता बरतते थे। जो लोग काया, वाणी, चित्त के कर्मों से दुश्चरित्र थे, उन्हें दुश्चरित्रता के दुर्गुण और दुष्परिणाम बता कर उससे दूर करने के लिए कठोरता बरतते थे। जो सच्चरित्र और दुश्चरित्र दोनों थे, उनके प्रति कोमलता और कठोरता दोनों बरतते थे।

केशी ने भगवान से पूछा कि जो व्यक्ति कोमलता से या कठोरता से किसी प्रकार भी नहीं सुधरता उसका भगवान क्या करते हैं?

भगवान ने कहा कि जो किसी प्रकार नहीं सुधरता,

हनामि नं, केसि - मैं उसकी हत्या कर देता हूं।

यह सुन कर केशी चौंका। भगवान और हत्या? वह चकित होकर पूछ बैठा -

न खो, भन्ते, भगवतो पाणातिपातो कप्पति।

(अ० नि० १.४.१११, केसिसुत्त)

- भगवान, आपके लिए प्राणी की हत्या करनी तो उचित नहीं है। और आप कहते हैं कि मैं हत्या कर देता हूं।

भगवान ने कहा कि सचमुच तथागत के लिए प्राणी-हिंसा करनी अनुचित है। परंतु वे आर्य-धर्म की परंपरा के अनुसार ही उसका वध करते थे। ऐसा व्यक्ति जो किसी प्रकार नहीं सुधर पाता, उसे तथागत उपदेश देने योग्य नहीं समझते थे, उसे अनुशासित किये जाने योग्य नहीं समझते थे। भगवान के जो शिष्य थे, वे भी उसे उपदेश देने योग्य और अनुशासित

गया यह दंड ब्रह्मदंड कहलाता था। इस प्रकार ऐसा व्यक्ति कल्याणकारी उपदेशों से वंचित रह जाता था। भगवान ने कहा कि आर्य-धर्म में यह उस व्यक्ति का वध करना ही है। कोई व्यक्ति भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध के संपर्क में आये, अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि के संपर्क में आये और कोरा ही रह जाय, उनके उपदेशों से, अनुशासन से वंचित रह जाय, अपना वास्तविक हित-सुख साधने से वंचित रह जाय, तो उस अभागे का वध हुआ ही समझना चाहिए। भगवान के जीवन काल में उनके बोधिसत्त्व जीवनकालीन राजरथ का सारथि था छन्न, जो कि आगे जाकर भगवान से प्रव्रजित हुआ, परंतु महाभिनिष्क्रमण में भगवान की सहायता करने के कारण सदा अभिमान में डूबा रहा। उस जैसा कोई इक्का-दुक्का व्यक्ति ही था, जिसे भगवान ने ऐसा कठोर ब्रह्मदंड दिया। अन्यथा जो भी उनके अनुशासन में आया, उनसे दमित होकर निहाल हो गया!

बहुतों के लिए कल्याणकारी हुए ऐसे भगवान अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि।

इतिपि सो भगवा अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि।

इतिपि सो भगवा सत्था

– वे भगवान ऐसे शास्ता भी हैं।

शास्ता वह जो शासन करे, अनुशासन करे।

आज की हिंदी में शासन कहते हैं हुकूमत को, राज्यतंत्र को, राज्य-नियंत्रण को, राज्यादेश को। शासन यानी हुकूमत करने वाले को कहते हैं– शासक। परंतु २६०० वर्ष पूर्व उत्तर भारत की जनभाषा में शासन (सासन) कहते थे शिक्षण को, उपदेश को और शिक्षण अथवा उपदेश देने वाले को कहते थे– सत्था अर्थात शास्ता अर्थात शिक्षक या उपदेशक।

भगवान बुद्ध सत्य धर्म के अनुपम, अद्वितीय शिक्षक थे। अतः **सत्था अनुत्तरो** थे। सम्यक संबोधि प्राप्त कर सम्यक संबुद्ध हुए तथागत ने जब पहला धर्मोपदेश दिया तब वह अनुत्तर धर्मचक्रप्रवर्तन कहलाया क्योंकि उस युग में पहली बार किसी ने दुःख और दुःख से नितांत विमुक्त होने का शुद्ध सद्धर्म प्रकाशित किया था। इसीलिए **अनुत्तरो सत्था** हुए, अनुपम धर्म-शिक्षक हुए, अतुलनीय शास्ता हुए। शास्ता तो और भी थे, परंतु भगवान बुद्ध की अपनी विशेषता थी। न केवल उनके द्वारा सिखाया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ था, उत्तम था, बल्कि उनकी धर्म सिखाने की योग्यता भी श्रेष्ठ थी, उत्तम थी। उन्होंने अपने आप को अथवा अपनी शिक्षा को किसी पर जबरन नहीं लादा। इसलिए भी वे श्रेष्ठ, उत्तम शास्ता कहलाए।

आज के मुहावरे "गुरु कीजे जान कर" की यह शायद प्रथम अभिव्यक्ति थी, जब उन्होंने कहा –

तथागते समन्नेसना कातब्बा 'सम्मासम्बुद्धो वा नो वा' इति विञ्ञाणायाति। (म० नि० १.४८७, वीमंसकसुत्त)

– 'तथागत सम्यक संबुद्ध हैं या नहीं' – इसे जानने के लिए उनकी जांच करनी चाहिए।

तथागत यह नहीं चाहते थे कि कोई उन्हें या उनकी शिक्षा को अंधविश्वास से मान ले।

कालामाओं आदि को जहां उन्होंने कहा **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त) यानी "केवल शास्त्र-वचनों के आधार पर किसी बात को नहीं मान लेना चाहिए", वहां साथ-साथ यह भी कहा कि-

मा समणो नो गरूति (अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त) – यह श्रमण हमारा गुरु है, इसके प्रति हमारे मन में गौरव का भाव है, महज इसलिए भी इसकी बात नहीं मान लेनी चाहिए, अथवा –

मा भब्बरूपताय (अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त) – यह श्रमण भव्य रूप वाला है, इसका व्यक्तित्व प्रभावशाली है, महज इसलिए भी इसकी बात नहीं मान लेनी चाहिए।

ये दोनों बातें स्वयं उन पर लागू होती थीं। वे गौरवशाली भी थे, भव्यरूप भी थे। अर्थात बिना जांचे-परखे महज अंधविश्वास के आधार पर उनकी बात भी नहीं मान लेनी चाहिए। मानवी चिंतन के स्वातंत्र्य की यह गंभीर घोषणा उन्होंने अपने आप पर और अपनी शिक्षा पर भी लागू की थी। समस्त मानव इतिहास में ऐसा कोई अन्य अद्भुत धर्म-शिक्षक देखने-सुनने में नहीं आया है, जो अपने आपको औरों पर थोपने के बजाय औरों के द्वारा जांचे जाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत करे।

जिन्हें ध्यान समापत्ति द्वारा परचित्त ज्ञान की अभिज्ञा प्राप्त हो गयी थी, वे तो अपने चित्त से तथागत के चित्त को जान कर आश्वस्त हो सकते थे कि ये वस्तुतः सम्यक संबुद्ध हैं। परंतु जिन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से जांच करने का परामर्श दिया गया। जैसे कोई खरे सोने को कसौटी पर रगड़ कर, परख कर स्वीकारता है वैसे ही अपने गुरु को भी परखना चाहिए, चाहे वह तथागत ही क्यों न हो।

उन दिनों पांच प्रकार के मिथ्या शास्ता थे –

(१) कोई शास्ता दुःशील होने पर भी सुशील होने का दावा करता था।

(२) कोई शास्ता अशुद्ध आजीविका वाला होने पर भी शुद्ध आजीविका वाला होने का दावा करता था।

(३) कोई शास्ता अशुद्ध धर्मोपदेशक होने पर भी शुद्ध धर्मोपदेशक होने का दावा करता था।

(४) कोई शास्ता गलत व्याख्याता होने पर भी सही व्याख्याता होने का दावा करता था।

(५) कोई शास्ता अशुद्ध ज्ञान-दर्शनसंपन्न होने पर भी शुद्ध ज्ञान-दर्शनसंपन्न होने का दावा करता था।

इनकी तुलना में तथागत शुद्ध शील वाले होने के कारण ही शुद्ध शील वाले होने का; शुद्ध आजीविका वाले होने के कारण ही शुद्ध आजीविका वाले होने का; शुद्ध धर्मोपदेशक होने के कारण ही शुद्ध धर्मोपदेशक होने का; सही व्याख्याता होने के कारण ही सही व्याख्याता होने का; शुद्ध ज्ञान-दर्शनसंपन्न होने के कारण ही शुद्ध ज्ञान-दर्शनसंपन्न होने का दावा करते थे। (चूळव० ३३४, पञ्चसत्थुकथा)

जो मिथ्या गुरु थे, उन्हें वास्तविकता छिपाने के लिए अनेक गलत-सलत प्रयत्न करने पड़ते थे। उनके शिष्य भी इस काम में उनका साथ देते थे, क्योंकि गुरु को प्राप्त हुई भेंट-पूजा में, मान सम्मान में, उन्हें भी भाग मिलता था। भगवान को यह सब करने की आवश्यकता नहीं थी और न ही उनके शिष्यों को। उनका जीवन एक खुली पुस्तक जैसा था। उनके जीवन में कुछ गोपनीय था ही नहीं। इसीलिए वे सही शास्ता थे।

नास्तिकवादी शास्ता

उन दिनों ऐसे भी शास्ता थे, जो नास्तिकवादी विश्वास और मान्यताएं रखते थे।

(१) कोई-कोई नास्तिक शास्ता यह मानते थे कि दान, यज्ञ या हवन का कोई फल नहीं है। किसी सत्कर्म या दुष्कर्म का अच्छा या बुरा फल नहीं मिलता है। कोई लोक, परलोक नहीं है। कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है

जो लोक-परलोक का स्वयं साक्षात्कार करके औरों को बता सके। व्यक्ति चार महाभूतों से बना होता है। मरने पर पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में, जल तत्त्व जल में, वायु तत्त्व वायु में और अग्नि तत्त्व अग्नि में जा मिलते हैं। इंद्रियां आकाश में समा जाती हैं। मृत व्यक्ति को जलाने पर उसकी केवल हड्डियां और राख ही शेष बचती हैं। मूर्ख अथवा पंडित, मरने पर सभी नष्ट हो जाते हैं। मरने के बाद कोई कायम नहीं रहता। अतः दान आदि के सफल की मान्यता मूर्खतापूर्ण है।

(२) कोई शास्ता इस मत का था कि लोगों के प्रति दुष्कर्म करते-करवाते, उन्हें काटते-कटवाते, उन्हें दुःखी, परेशान, व्याकुल करते, चोरी करते, घरों में सेंध लगाते, गांव लूटते, घर लूटते, डाका डालते, व्यभिचार करते अथवा झूठ बोलते कोई पाप नहीं होता। छुरे जैसे तेज धार वाले चक्र द्वारा इस पृथ्वी के प्राणियों को काट-काट कर मांस का एक पुंज बना दे, तो भी कोई पाप नहीं होता। यदि गंगा के दक्षिणी तट पर लोगों को मारते-मारते चला जाय तो भी उसे कोई पाप नहीं लगता। इसी प्रकार गंगा के उत्तरी तट पर दान देते-देते चला जाय, तो उसका भी कोई पुण्य नहीं होता। दान, दम, संयम, सत्य आदि सभी निरर्थक, निष्फल हैं।

(३) कोई शास्ता इस मत का था कि न प्राणी की चित्त-मलीनता का कोई हेतु होता है और न चित्त-विशुद्धि का। बिना कारण ही प्राणी विशुद्ध, विमुक्त हो जाता है। कोई बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम काम नहीं आते। सभी प्राणी अबल हैं, अवश हैं और भाग्य के अधीन हैं।

(४) कोई शास्ता इस मत का था कि पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, सुख, दुख और जीव – ये सात तत्त्व अमर हैं, मरते नहीं, मारे नहीं जा सकते, कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रुव हैं। कोई किसी को हानि या लाभ नहीं पहुँचा सकता है, न सुख-दुःख दे सकता है। न कोई हत्या करने वाला है, न हत्या करवाने वाला। तीक्ष्ण शस्त्र से कोई किसी का सिर भी काट दे, तो उसे हत्या करना नहीं कहा जाएगा, क्योंकि शस्त्र इन सात अमर तत्त्वों में से गुजर जाएगा। सभी प्राणियों को चौरासी हजार महाकल्पों तक भव-संसरण करना ही पड़ता है; तभी दुःख से मुक्ति होती है। सुख-दुःख नपे तुले हैं।

उनमें घट-बढ़ नहीं होती। किसी भी शील से, व्रत से, तप से अथवा ब्रह्मचरण से दुःख दूर नहीं किये जा सकते।

(म० नि० २.२२५-२२८, सन्दकसुत्त)

तथागत आस्तिकवादी शास्ता थे

उपरोक्त चारों के विपरीत तथागत आस्तिकवादी शास्ता थे। उन चार प्रकार के शास्ताओं की शिक्षा शुद्ध धर्माचरण पर आधारित नहीं थी, जबकि भगवान की शिक्षा शुद्ध धर्माचरण पर आधारित थी। वे कर्म और कर्मफल के नैसर्गिक सिद्धांत को स्वयं जान कर मानने वाले थे। लोक और परलोक को स्वयं जान कर मानने वाले थे। कारण-कार्य यानी हेतु-परिणाम के नियमों को स्वयं जान कर मानने वाले थे। बल, वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ के सुफल को स्वयं जान कर मानने वाले थे। समस्त संसार के प्राणियों तथा वस्तुस्थितियों के सतत परिवर्तनशील स्वभाव को स्वयं जान कर मानने वाले थे। शील, व्रत, तप और ब्रह्माचरण से दुःख दूर होने की सच्चाई को स्वयं जान कर मानने वाले थे।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि उन दिनों नास्तिकवाद और आस्तिकवाद की यही व्याख्या थी। परवर्ती काल में प्रचलित हुई व्याख्या का उन दिनों कोई प्रयोग नहीं था। उन दिनों के प्रचलन, प्रयोग के अनुसार तथागत परम आस्तिक शास्ता थे।

सुनी-सुनायी के शिक्षक

जैसे आज वैसे ही उन दिनों भी अनेक शास्ता ऐसे थे जो सुनी-सुनायी बातों के आधार पर धर्म सिखाते थे तथा जिनका अपना अनुभव कुछ भी नहीं था। ऐसे शास्ता के बारे में यह कहा जाता था –

सो अनुस्सवेन इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय धम्मं देसेति।

– वह धर्मशास्त्रों को प्रमाण मान कर, परंपराजन्य ऐसी-वैसी सुनी-सुनायी बातों के आधार पर धर्म सिखाता है।

अनुस्सविको अनुस्सवसच्चो। (म० नि० २.२३०, सन्दकसुत्त)

– जो सुनी-सुनायी बातों को सत्य मानने वाला है।

सुनी-सुनायी बातें सही भी हो सकती हैं और गलत भी, क्योंकि अपने अनुभव से जानी हुई नहीं हैं।

तार्किक शिक्षक

कोई-कोई शास्ता ऐसे भी थे, जो बुद्धिजन्य तर्कों के आधार पर धर्म सिखाते थे। बुद्धि की अपनी सीमा होती है। तर्क तो कुतर्क भी हो सकते हैं, सुतर्क भी। उनकी शिक्षा में स्वानुभूति का सर्वथा अभाव था।

स्वानुभूति के शिक्षक

तथागत ऐसे शास्ता थे, जो अपने अनुभव के आधार पर धर्म सिखाते थे। इसी सच्चाई की ओर इंगित करते हुए बावरी ब्राह्मण के शिष्य हेमक माणवक ने कहा –

ये मे पुब्बे वियाकंसु, हुरं गोतमसासना।

– गौतम के शासन के पूर्व जो लोग मुझे शिक्षा देते थे, वे बताते थे –

इच्चासि इति भविस्सति – ऐसा है और ऐसा होगा।

सब्बं तं इतिहीतिहं – वे सब सुनी- सुनायी बातें थीं।

सब्बं तं तक्कवड्ढनं – सभी तर्क-वितर्क बढ़ाने वाली बातें थीं।

(सु० नि० १०९०, हेमकमाणवपुच्छा)

तथागत इसके विपरीत स्वयं अपने अनुभव पर उतरी हुई सच्चाइयों की ही धर्म-देशना देते थे और लोगों को भी वही सच्चाई अपने अनुभव पर उतारने की विधि सिखाते थे।

जिनके अपने अनुभव पर सच्चाई नहीं उतरी, उनका श्रमण जीवन सफल सार्थक नहीं हुआ, उन्हें स्वयं उत्तम श्रामण्यफल नहीं प्राप्त हुआ। ऐसे शास्ता जब औरों को धर्म- देशना देते थे, तब उनकी वही दशा थी, जैसे

कोई अपने खेत की उपेक्षा करके पराये खेत का घास-फूस साफ करने की कोशिश करे। ऐसे लोग महज यश-लाभ के लिए ही धर्म सिखाते थे। जो स्वयं अपना भला नहीं कर सका, वह औरों का क्या भला करेगा?

'सो वत, चुन्द, अत्तना पलिपपलिपन्नो परं पलिपपलिपन्नं उद्धरिस्सती'ति नेतं ठानं विज्जति।

– हे चुंद, जो स्वयं दलदल में गिरा हुआ है, वह दूसरे दलदल में गिरे हुए को उठायेगा, इसकी संभावना नहीं है।

'सो वत, चुन्द, अत्तना अपलिपपलिपन्नो परं पलिपपलिपन्नं उद्धरिस्सती'ति ठानमेतं विज्जति। (म० नि० १.८७, सल्लेखसुत्त)

– किंतु हे चुंद, जो स्वयं दलदल में गिरा हुआ नहीं है, वह किसी दूसरे दलदल में गिरे हुए को उठायेगा, इसकी संभावना है।

शास्ता तथागत पहले स्वयं उठे और उन ऊंचाइयों तक उठे, जो कि उस युग के लिए अभूतपूर्व थीं। उन्होंने नाम और रूप के सारे क्षेत्र का अतिक्रमण करके, इंद्रिय जगत के सारे क्षेत्र का अतिक्रमण करके, स्पर्श और वेदना के सारे क्षेत्र का अतिक्रमण करके नामरूपातीत, इंद्रियातीत, स्पर्श-वेदनातीत निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार किया। इन ऊंचाइयों तक पहुँच कर ही जब उन्होंने इस दुखियारे संसार को देखा तो उनका देखना सार्थक हुआ। दुखियारे लोगों की दुःख-विमुक्ति के लिए उनका हृदय करुणा विगलित हो उठा।

सेले यथा पब्बतमुद्धनिट्ठितो, यथापि पस्से जनतं समन्ततो।

– जैसे कि कोई पर्वत की चोटी पर खड़ा होकर चारों ओर जनता को देखे,

तथूपमं धम्ममयं सुमेधो, पासादमारुय्ह समन्तचक्खु।
सोकावतिण्णं जनतमपेतसोको, अवेक्खति जातिजराभिभूतं॥

(इतिवु० ३८, वितक्कसुत्त)

– उसी प्रकार शोक-मुक्त, समंतचक्षु, महाप्रज्ञावान भगवान बुद्ध ने इस धर्मरूपी महल पर चढ़ कर, जन्म-जरा से पीड़ित, शोक- मग्न जनता को देखा।

ऐसा ही व्यक्ति सही शास्ता हो सकता है, सही मार्गदर्शक हो सकता है क्योंकि उसने स्वयं निर्वाण को जान लिया है, निर्वाण तक पहुँचने का पथ जान लिया है।

निब्बानञ्चाहं, सारिपुत्त, पजानामि – हे सारिपुत्त, मैं निर्वाण को जानता हूं।

निब्बानगामिञ्च मग्गं, निब्बानगामिनिञ्च पटिपदं।

– निर्वाणगामी मार्ग को, निर्वाणगामिनी प्रतिपदा को (जानता हूं)।

यथा पटिपन्नो च आसवानं खया अनासवं चेतोविमुत्तिं पञ्ञाविमुत्तिं दिट्ठेव धम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरति।

– ऐसे मार्ग पर आरूढ़ होकर कोई भी व्यक्ति आस्रव अर्थात मैल का क्षय करके चित्तजन्य विमुक्ति तथा प्रज्ञाजन्य विमुक्ति को यहीं देख कर स्वयं अभिज्ञा यानी ऊंचे ज्ञान का साक्षात्कार करके विहार करता है।

तञ्च पजानामि – उसे भी जानता हूं। (म० नि० १.१५३, महासीहनादसुत्त)

भगवान ने स्वयं यह अवस्था प्राप्त कर ली थी इसलिए यह उनके दस बलों में से एक था। उन्होंने आस्रव क्षय की नितांत विमुक्त अवस्था का इसी जन्म में स्वयं साक्षात्कार कर लिया था। कहीं किसी से कोई धर्म की बात सुन ली और उसी का उपदेश देने लगे, ऐसे आचार्य अनेक थे। भगवान ऐसे नहीं थे।

तं खो पनाहं, भिक्खवे, नाञ्ञस्स समणस्स वा ब्राह्मणस्स वा सुत्वा वदामि।

– भिक्षुओ, इसे मैं किसी दूसरे श्रमण या ब्राह्मण से सुन कर नहीं कहता हूं।

....यदेव मे सामं ञातं, सामं दिट्ठं, सामं विदितं, तमेवाहं वदामि।

(इतिवु० ८१, सक्कारसुत्त)

– जिसे मैंने स्वयं जाना है, स्वयं देखा है, स्वयं विदित किया है उसे ही मैं कहता हूं।

भगवान ने स्वयं अभिज्ञा अर्थात अभिज्ञान प्राप्त किया, ऊंचा ज्ञान प्राप्त किया जो कि विमुक्त अवस्था प्राप्त करने में सहायक हुआ। इस अभिज्ञा के बल पर ही उन्होंने लोगों को धर्म सिखाया।

अभिञ्ञायाहं, भिक्खवे, धम्मं देसेमि – भिक्षुओ, मैं अभिज्ञा प्राप्त करके ही धर्म उपदेशता हूं।

नो अनभिञ्ञाय – अभिज्ञा प्राप्त किये बिना नहीं।

(अ० नि० १.३.१२६, गौतमकचेतियसुत्त)

उन्होंने अपनी अभिज्ञा द्वारा यहीं इसी जीवन में आस्रव क्षय अवस्था प्राप्त की थी। जो अवस्था स्वयं प्राप्त की, वही औरों को भी प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते थे। इसके लिए यथोचित मार्ग-दर्शन देते थे। भगवान ने स्वयं देखा और जाना, इसलिए वे औरों को भी स्वयं देखने और जानने के लिए प्रोत्साहित करते थे। उन दिनों देखना और जानना, स्वानुभूति के स्तर पर जानने को कहा जाता था। देखने का एक अर्थ था – आंखों से रूप, रंग, रोशनी आदि देखना। इस बहुप्रचलित अर्थ के अतिरिक्त एक और अर्थ भी था – स्वयं अनुभव करना। आज की हिंदी में भी कहीं-कहीं, कभी-कभी यह अर्थ उभर कर सामने आता है, जो उन दिनों की साधना-पद्धति के लिए बार-बार प्रयुक्त होता था। आज भी कभी-कभी कहते हैं –

(१) यह मिठाई चख कर तो देख, कितनी स्वादिष्ट है।

(२) यह संगीत सुन कर तो देख, कितना कर्णप्रिय है।

(३) यह फूल सूंघ कर तो देख, कितना सुगंधित है।

(४) यह मखमल छूकर तो देख, कितनी मुलायम है।

यहां 'देख' शब्द का अर्थ मिठाई, संगीत, फूल या मखमल का रंग-रूप देखना नहीं है, बल्कि स्वयं अनुभव करने के अर्थ में ही 'देख' शब्द का

प्रयोग हुआ है। किसी सच्चाई को 'देख कर' जानने का अर्थ होता था स्वयं अनुभव करके जानना।

किसी गुरु का उपदेश सुन कर उसे श्रद्धा के बल पर स्वीकार कर लिया तो यह जानना नहीं हुआ। वस्तुतः यह केवल श्रुत- ज्ञान है। किसी उपदेश को सुन कर, चिंतन-मनन द्वारा उसे तर्क-संगत मान कर स्वीकार कर लिया तो यह जानना नहीं हुआ। यह केवल चिंतन-ज्ञान है। इन दोनों का आधार परोक्ष है। यह दोनों परोक्ष ज्ञान हैं। जबकि स्वयं 'देख कर' जाने यानी स्वयं अनुभव कर के जाने, तो ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। भगवान ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सच्चाई जानी और वे मुमुक्षु लोगों को प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही सच्चाई जानने का मार्ग बताते थे। उनके उपदेश केवल अंध-श्रद्धा या बुद्धि-किलोल के लिए नहीं होते थे। तभी कहा –

जानतोहं, भिक्खवे, पस्सतो आसवानं खयं वदामि।

– मैं जानने और देखने वाले के लिए ही आस्रवों का क्षय बताता हूं।

नो अजानतो नो अपस्सतो – न जानने वाले और न देखने वाले के लिए नहीं।

और फिर पूछा –

किञ्च, भिक्खवे, जानतो किं पस्सतो आसवानं खयो होति?

– क्या जानने वाले और क्या देखने वाले के आस्रव क्षय होते हैं?

और फिर समझाया –

इदं दुक्खन्ति... अयं दुक्खसमुदयोति... अयं दुक्खनिरोधोति... अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदाति, भिक्खवे, जानतो पस्सतो आसवानं खयो होति।

(इतिवु० १०२, आसवक्खयसुत्त)

– यह दुःख है, यह दुःख-समुदय है, यह दुःख-निरोध है, यह दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है। भिक्षुओ, इस प्रकार जानने और देखने वाले के आस्रवों का क्षय हो जाता है।

बुद्ध जैसे महान शास्ता की शिक्षा महज बुद्धि- रंजन के लिए नहीं होती थी और न ही लोगों को अंध-भक्त बनाने के लिए होती थी। भगवान तथागत व्यावहारिक थे। यथावादी तथाकारी थे। यथाकारी तथावादी थे। अतः जैसे उन्होंने स्वयं परिश्रम, पुरुषार्थ करके आस्रव क्षय की विमुक्त अवस्था प्राप्त की थी, वैसे ही अपने शिष्यों से करवाना चाहते थे। चार आर्यसत्य उनके लिए कोई सांप्रदायिक या दार्शनिक मान्यता नहीं थी। यह उनका व्यावहारिक, प्रयोगात्मक अभ्यास का प्रशिक्षण था। दुःख, दुःख का कारण, दुःख निवारण और निवारण के मार्ग का उपदेश किसी विद्यालय के विद्यार्थियों से इनकी महज गिनती गिनवाने के लिए नहीं दिया गया था। न इनको लेकर किसी सांप्रदायिक दार्शनिक मान्यता स्थापित करने के लिए ही यह उपदेश दिया गया था। इन चारों सच्चाइयों को अनुभूति पर उतारना होता था। जो ऐसा करे वही **जानतो, पस्सतो** कहलाता था। शास्ता की शिक्षा ऐसे ही लोगों के लिए थी और है। जो अनुभव उन्होंने स्वयं किया और भवमुक्त हुए, वही अन्य लोग भी करें और भवमुक्त हों – यही उनकी शिक्षा का उद्देश्य था।

अन्य आचार्यों में और शास्ता भगवान बुद्ध में यही भेद था, यही अंतर था। अन्य लोग बिना स्वयं अनुभव किये पढ़ी-पढ़ाई बात की, सुनी-सुनायी बात की शिक्षा देते थे। उनके शिष्य भी उस पढ़ी-पढ़ायी, सुनी-सुनायी बात को याद कर लेते थे और आचार्य बन कर अपने शिष्यों को वही पढ़ी-पढ़ायी, सुनी- सुनायी बात पढ़ा-सुना कर याद करा देते थे। यों यह –

ब्राह्मणानं पोराणं मन्तपदं इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय।

– तोता-रटंत धारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती आ रही थी। श्रुति और स्मृति के आधार पर ही सारी शिक्षा चलती थी।

उन आचार्यों से जब पूछा जाता कि जो सिखा रहे हो, क्या उसके बारे में दावे के साथ कह सकते हो कि –

अहमेतं जानामि, अहमेतं पस्सामि – इसे मैं जानता हूं, इसे मैं देखता हूं।

(म० नि० २.४२७, चङ्कीसुत्त)

अर्थात जो सिखाता हूं, उसे मैंने स्वयं अपने अनुभव पर उतारा है, तो उनका उत्तर नकारात्मक ही होता था। जिस शिक्षा को उसने स्वयं अनुभूति पर नहीं उतारा, उससे यह कैसे अपेक्षा की जा सके कि वह अपने शिष्यों को अनुभूति पर उतार सकने का मार्ग बता सकेगा? उन आचार्यों और उन शिष्यों के लिए यह शिक्षा केवल श्रुति यानी सुनने के लिए और स्मृति यानी याद कर लेने के लिए होती थी। इसे देखने और जानने के लिए यानी अनुभव पर उतारने के लिए कहीं कोई अवकाश नहीं था। भगवान ने धर्म-शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी क्रांति पैदा की, जो अत्यंत कल्याणकारिणी साबित हुई, फलदायिनी साबित हुई। वे स्वयं **जानामि, पस्सामि** का सही दावा कर सकते थे और अपने शिष्यों को **जानतो, पस्सतो** बनाने का काम करवाते थे। यही सबसे बड़ी विशेषता थी, जो शास्ता को औरों से अलग और विशिष्ट स्थान प्रदान करती थी।

भगवान का ज्ञान कोरा शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। शास्त्रों को पढ़ कर वे सम्यक संबुद्ध नहीं बने थे। उनका ज्ञान अनुभूतिजन्य था। तभी कहा गया –

अद्धावुसो कच्चान, भगवा जानं जानाति, पस्सं पस्सति।

– हे आयुष्मान कच्चान, यह भगवान जाननहार हैं, जानते हैं; देखनहार हैं, देखते हैं।

देखते हैं अर्थात अनुभव करते हैं, तभी सही माने में जानते हैं और तभी स्वयं –

चक्खुभूतो, ञाणभूतो, धम्मभूतो, ब्रह्मभूतो।

– चक्षु वन गये हैं, ज्ञान वन गये हैं, धर्म वन गये हैं, ब्रह्म बन गये हैं।

और स्वयं **जानतो, पस्सतो** हैं इसीलिए परम कल्याणकारी –

वत्ता पवत्ता अत्थस्स निन्नेता – वक्ता हैं, प्रवक्ता हैं, अर्थ के निर्णेता हैं, निर्णायक हैं।

और अपनी अनुभूति का ज्ञान लोगों को बांटने वाले अनुपम शास्ता हैं, तभी

अमतस्स दाता – अमृत के दाता हैं।

स्वयं अमृत चखा है इसलिए औरों को अमृत बांटने में, चखाने में समर्थ हैं। क्योंकि –

धम्मस्सामी तथागतो – तथागत धर्म-स्वामी हैं।

(म० नि० ३.२८१, महाकच्चानभद्देकरत्तसुत्त)

तथागत केवल धर्म की चर्चा ही नहीं करते थे, उन्होंने धर्म को पूर्णतया धारण कर लिया था, वे धर्ममय हो गये थे। अतः धर्मस्वामी थे, धर्मराजा थे।

भगवान के श्रावक शिष्य उनका इसलिए सम्मान करते थे कि वे कोरे वक्ता, प्रवक्ता नहीं थे बल्कि –

जानंयेवाह समणो गोतमो 'जानामी'ति।

– जान कर ही श्रमण गौतम कहते हैं कि मैं जानता हूं।

पस्संयेवाह समणो गोतमो 'पस्सामी'ति।

– देख कर ही श्रमण गौतम कहते हैं कि मैं देखता हूं।

यानी अनुभव करके ही श्रमण गौतम कहते हैं कि अनुभव करता हूं।

और इसी कारण शास्ता की यह प्रसिद्ध विशेषता थी कि –

अभिञ्ञाय समणो गोतमो धम्मं देसेति, नो अनभिञ्ञाय।

(म० नि० २.२४४, महासकुलुदायिसुत्त)

– स्वयं अभिज्ञान अर्थात अनुभूतियों पर उतरा हुआ ऊंचा ज्ञान प्राप्त करके ही श्रमण गौतम धर्म का उपदेश करते हैं, स्वयं अभिज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं।

वे महज वाणीविलास, श्रुति-विलास अथवा बुद्धिविलास के लिए धर्म का उपदेश नहीं देते थे।

शास्ता स्वयं अनुभव के परम धनी थे। अतः चाहते थे कि उनके श्रावक शिष्य भी वैसा ही अनुभव स्वयं प्राप्त कर कल्याणलाभी हों। वे इस बात के लिए बहुत सतर्क रहते थे कि कहीं उनके शिष्य उनका कथन

इसलिए न स्वीकार कर लें कि उनके शास्ता का बड़ा भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व है – **मा भब्बरूपताय** और इसलिए भी न स्वीकार कर लें कि यह श्रमण हमारे गुरु हैं, पूज्य हैं – **मा समणो नो गरूति** ।

बल्कि श्रावक शिष्य शिक्षा की उपादेयता को स्वयं जाने।

अत्तनाव जानेय्याथ – स्वयं जाने और जाने तो ही माने।

(अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त)

भगवान अपने शिष्य श्रावकों को स्वयं जानना सिखाते थे और फिर पूछते थे –

अपि नु तुम्हे, भिक्खवे, एवं जानन्ता एवं पस्सन्ता एवं वदेय्याथ।

– भिक्षुओ, इस प्रकार जानते हुए, देखते हुए क्या तुम ऐसा कहोगे कि –

सत्था नो गरु – शास्ता हमारे गुरु हैं।

सत्थुगारवेन च मयं एवं वदेम – शास्ता के प्रति गौरव-भाव होने के कारण हम ऐसा कहते हैं।

तो शिष्यों का उत्तर होता था –

नो हेतं, भन्ते – नहीं, भंते।

भगवान उन्हें जांचने के लिए फिर पूछते थे –

...एवं जानन्ता, एवं पस्सन्ता, एवं वदेय्याथ।

– इस प्रकार जानते हुए, देखते हुए क्या यह कहोगे कि –

समणो एवमाह – श्रमण ने हमें ऐसा कहा है।

समणा च नाम मयं एवं वदेम – श्रमण के वचन से हम ऐसा कहते हैं।

नो हेतं, भन्ते – नहीं, भंते।

भगवान स्थिति को और स्पष्ट करते हुए उनसे पूछते थे –

ननु, भिक्खवे, यदेव तुम्हाकं सामं ञातं सामं दिट्ठं सामं विदितं तदेव तुम्हे वदेथ।

– भिक्षुओ, यह जो तुम्हारा स्वयं जाना हुआ, स्वयं देखा हुआ, स्वयं विदित किया हुआ है, उसी को तुम कहते हो?

तो भिक्षु उत्तर देते थे –

एवं, भन्ते – ऐसा ही है, भंते। (म० नि० १.४०७, महातण्हासङ्खयसुत्त)

जो सच्चाई शास्ता ने **सामं ञातं, सामं दिट्ठं, सामं विदितं** करके अभिव्यक्त की, उसी सच्चाई को उनके शिष्यों ने भी **सामं ञातं, सामं दिट्ठं, सामं विदितं** करके अपना कल्याण साधा। वे इस बात के लिए सदा सतर्क रहते थे कि उनका कोई शिष्य-श्रावक स्वानुभूति से वंचित रह कर केवल अंधश्रद्धा के आधार पर उनकी वाणी स्वीकार करके संतुष्ट न रह जाय।

शास्ता की यही महत्ता थी, यही महानता थी।

उन्होंने यह मिथ्या दावा कभी नहीं किया कि मैं तुम्हें सारे पापों से विमुक्त कर दूंगा। अंध-भक्त चेलों को मूंड़ कर उन्हें कोई संप्रदाय नहीं खड़ा करना था। शास्ता सत्यवादी थे, यथार्थवादी थे। उन्होंने स्वयं घोर परिश्रम करके संबोधि प्राप्त की थी, नितांत विमुक्त अवस्था प्राप्त की थी। किसी अदृश्य शक्ति की कृपा तथा अनुकंपा से उन्हें संबोधि एवं विमुक्ति प्राप्त नहीं हुई थी। वे अपने अनुभव से जानते थे कि हर व्यक्ति को अपनी विमुक्ति के लिए स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ता है। किसी की कृपा या अनुकंपा विमुक्ति नहीं दिला सकती। किसी की कृपा, अनुकंपा केवल इतनी ही हो सकती है कि यदि वह स्वयं मुक्त हुआ है, तो जिस रास्ते चल कर मुक्त हुआ, उसे आख्यात कर देगा। तथागत केवल **अक्खातारो** यानी मार्ग आख्यात करने वाले होते हैं। तपने का काम तो साधक को स्वयं ही करना होता है – **तुम्हेहि किच्चं आतप्पं** (ध० प० २७६, मग्गवग्ग)।

धोतक माणवक

दक्षिण से आये हुए आचार्य धोतक ने बहुत श्रद्धापूर्वक भगवान से कहा –

पमुञ्च मं सक्क कथंकथाहि। (सु० नि० १०६९, धोतकमाणवपुच्छा)

– हे श्रेष्ठ, मुझे **कथङ्कथा** से यानी संशय से मुक्त कर दें।

बुद्धि के स्तर पर कोई शंकाएं दूर करने का प्रयत्न भले करे, पर वास्तविक स्तर पर समस्त शंकाओं से तभी मुक्त होता है जबकि –

अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा – उसकी सारी शंकाएं मिट जाती हैं,

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा – जबकि उसके लिए धर्मों का प्रादुर्भाव हो जाता है, प्रकटीकरण हो जाता है।

और धर्मों का प्रकटीकरण उसी के लिए होता है जो –

आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स – तपस्वी, ध्यानी ब्राह्मण होता है।

तो शंकाएं किसी अन्य के मिटाये नहीं मिटा करतीं। एक मिटेगी तो दूसरी अपना सिर उठा लेगी। परंतु जब स्वयं अनुभूतियों द्वारा –

यतो पजानाति सहेतुधम्मं – हेतु सहित धर्म को जान लेता है, और –

(महाव० १-२, बोधिकथा)

यतो खयं पच्चयानं अवेदि – (उस हेतु के) क्षय को भी जान लेता है,

(उदा० २, दुतियबोधिसुत्त)

अर्थात जब कोई तपस्या करता हुआ दुःख के कारण और उसके निवारण को स्वयं यथाभूत जान लेता है, तब उस विमुक्त अवस्था पर पहुँचे हुए योगी को किसी भी प्रकार की शंका नहीं रह जाती।

बिना स्वयं विमुक्त अवस्था तक पहुँचे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा शंकामुक्त कैसे हो सकेगा भला? इसके लिए तो स्वयं तपना होगा। इसी को लक्ष्य करके शास्ता ने आचार्य धोतक को उत्तर दिया –

नाहं सहिस्सामि पमोचनाय, कथंकथिं धोतक कञ्चि लोके।

– हे धोतक, मैं किसी शंकालु व्यक्ति को शंकामुक्त करने नहीं जाता।

धम्मञ्च सेट्ठं अभिजानमानो, एवं तुवं ओघमिमं तरेसि।

(सु० नि० १०७०, धोतकमाणवपुच्छा)

– तुम संपूर्ण धर्म को (स्वयं) जान जाओगे, तो इस (भवसागर की) बाढ़ से (स्वतः) तर जाओगे।

तरना स्वयं को ही होता है। कोई दूसरा किसी को नहीं तारता। शास्ता मुक्ति दाता नहीं होते, मार्ग-दाता होते हैं। मुक्ति का मार्ग खोजते हैं। उस पर स्वयं चल कर मुक्त होते हैं और उस मार्ग को भली-भांति जान लेने के कारण औरों को आख्यात करते हैं। उनके द्वारा बताये मार्ग पर स्वयं चले तभी कोई साधक मुक्त हो सकता है। शास्ता –

अनुप्पन्नस्स मग्गस्स उप्पादेता – अनुत्पन्न मार्ग के उत्पादक होते हैं।

असञ्जातस्स मग्गस्स सञ्जनेता – अज्ञात मार्ग के ज्ञाता होते हैं।

अनक्खातस्स मग्गस्स अक्खाता – अनाख्यात मार्ग के आख्याता होते हैं।

इसीलिए **मग्गञ्ञू** होते हैं, **मग्गविदू** होते हैं, **मग्गकोविदो** होते हैं।

मग्गानुगा च पन एतरहि सावका विहरन्ति पच्छा समन्नागता।

(म० नि० ३.७९, गोपकमोग्गल्लानसुत्त)

– पीछे से आये हुए इस समय के श्रावक उनके बताये मार्ग के अनुगामी हो विहार करते हैं।

लोग उनके बताये मार्ग पर चलते थे, उनके जीवन काल में भी, उनके जीवन के पश्चात भी। वे अपने शिष्यों को सदा इसी के लिए प्रोत्साहित करते रहे।

एथायं मग्गो, अयं पटिपदा – यह मार्ग है, यह प्रतिपदा है,

यथापटिपन्नो अहं – जिस पर आरूढ़ होकर मैं,

अनुत्तरं ब्रह्मचरियोगधं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेमि।

– स्वयं अनुपम ब्रह्मचरण द्वारा अभिज्ञान का साक्षात्कार कर प्रवचन करता हूं।

एथ, तुम्हेपि तथा पटिपज्जथ – आओ, तुम भी उसी प्रकार मार्गारूढ़ हो जाओ।

यथापटिपन्ना तुम्हेपि – उस तरह मार्ग पर प्रतिपन्न होकर तुम भी,

अनुत्तरं ब्रह्मचरियोगधं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरिस्सथ।

(अ० नि० १.३.६१, सङ्गारवसुत्त)

– अनुपम ब्रह्माचरण द्वारा अभिज्ञान का स्वयं साक्षात्कार कर सकोगे।

बोधि वृक्ष तले सम्यक संबोधि प्राप्त करने के पश्चात जब कल्याणकारक शास्ता ने पहले-पहल धर्मशिक्षक की भूमिका अदा करनी आरंभ की, तब ऋषिपत्तन मृगदाय में धर्मचक्रप्रवर्तन किया और अपने प्रथम पांच शिष्यों को इसी मुक्तिदायिनी प्रतिपदा की देशना दी। इस पर आरूढ़ होकर सप्ताह के भीतर-भीतर उन पांचों ने परम विमुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली।

मुक्त वही हुआ, जो इस रास्ते पर चला। बिना स्वयं चले जिसने केवल बुद्धि-विलास किया, वह कोरा ही रह गया। उसे मार्ग पर चलने का फल कैसे प्राप्त होता? श्रावस्ती से राजगृह तक के मार्ग की पूरी व्याख्या सुन कर भी जो उस पर नहीं चला, वह राजगृह नहीं ही पहुँच सका। इसी प्रकार भगवान के उपदेश सुन कर भी जो उनके बताये मार्ग पर नहीं चला, वह मुक्त अवस्था तक नहीं ही पहुँच सका। शास्ता ने किसी को मुक्ति प्रदान कर देने का झूठा वायदा नहीं किया। उन्होंने स्वयं कहा और बार-बार कहा –

मग्गक्खायीहं, ब्राह्मण, तथागतो। (म० नि० ३.७७, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

– हे ब्राह्मण, तथागत तो मार्ग आख्यात करने वाले होते हैं।

और मार्ग भी ऐसा उत्तम –

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो – मार्गों में श्रेष्ठ (आर्य अष्टांगिक मार्ग)।

एसेव मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया। (ध० प० २७३-२७४, मग्गवग्ग)

– (सत्य) दर्शन की विशुद्धि के लिए यही मार्ग है, दूसरा नहीं। भवमुक्त होने के लिए अन्य कोई उपाय नहीं।

एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो – भिक्षुओ, यही एक (मात्र) मार्ग है।

(दी० नि० २.४०५, महासतिपट्ठानसुत्त)

एतञ्हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।

– इस पर आरूढ होकर तुम दुःखों का अंत कर लो।

इसी मार्ग पर चल कर शास्ता ने अपने दुःखों का अंत किया। अतः औरों को भी इसी पर चलने की प्रेरणा देते रहे।

अक्खातो वो मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लकन्तनं।

– शल्य सदृश दुःख को काटने वाला परम ज्ञान प्राप्त करके ही (परम मुक्त अवस्था प्राप्त करके ही) मैंने यह मार्ग आख्यात किया है।

(ध० प० २७५-२७६, मग्गवग्ग)

अक्खातारो तथागता।

– तथागत तो (केवल) मार्ग आख्यात कर देते हैं।

अत्यंत करुणचित्त से ऐसा कल्याणकारी मार्ग आख्यात कर देने पर भी कोई उस पर न चले तो –

एत्थ क्याहं, ब्राह्मण, करोमि – यहां ब्राह्मण, मैं क्या करूं?

(म० नि० ३.७७, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

भगवान केवल कोई मान्यता स्थापित करके नहीं रह गए। जैसे कि –

रूपं... वेदना... सञ्ञा... सङ्खारा... विञ्ञाणं,

– रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान,

निच्चं धुवं सस्सतं अविपरिणामधम्मं नत्थिसम्मतं लोके पण्डितानं।

– नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील है। संसार के पंडित यानी समझदार लोग इस बात से सम्मत नहीं हैं, सहमत नहीं हैं।

अहम्पि तं 'नत्थी'ति वदामि – मैं भी कहता हूं कि 'ऐसा नहीं है', अर्थात ये ध्रुव नहीं हैं।

परंतु यह तथ्य केवल कहने-सुनने के लिए नहीं था। अन्यथा तो यह भी एक दार्शनिक मान्यता बन कर रह जाता। भगवान ने उसका अनुभव करना सिखाया। अतः विश्लेषण करके समझाया।

यो, भिक्खवे, तथागतेन एवं आचिक्खियमाने देसियमाने,

– भिक्षुओ, तथागत के इस प्रकार कहने पर, उपदेश देने पर, और इतना ही नहीं बल्कि आत्मनिरीक्षण की साधना द्वारा –

पञ्ञापियमाने – प्रज्ञापित करने पर,

पट्ठपियमाने – प्रस्थापित करने पर,

विवरियमाने – उघाड़ कर दिखा देने पर,

विभजियमाने – विभाजन करके दिखा देने पर,

उत्तानीकरियमाने – खोल कर दिखा देने पर (भी)

न जानाति न पस्सति – न जानता है, न देखता है यानी अनुभव करने का काम नहीं करता है।

तमहं, भिक्खवे, बालं पुथुज्जनं, अन्धं, अचक्खुकं।

– तो मैं ऐसे मूर्ख, पृथग्जन, अंधे, चक्षुविहीन,

अजानन्तं, अपस्सन्तं,

– नहीं जानते हुए के लिए, नहीं देखते हुए के लिए अर्थात अनुभव नहीं करते हुए के लिए,

किन्ति करोमि – क्या करूं? (सं० नि० २.३.९४, पुप्फसुत्त)

'क्याहं करोमि', 'किन्ति करोमि' जैसे उद्गार भगवान की करुणापूर्ण असमर्थता प्रकट करते हैं। उनमें बड़ी करुणा थी। अतः वे अपनी शिक्षा का मात्र उपदेश देकर नहीं रह गये। तथागत तथाकारी थे। उन्होंने स्वयं प्रयोगात्मक अनुभव किया था। अतः अपने साधकों को केवल सैद्धांतिक उपदेश देना उनकी शिक्षा का उद्देश्य नहीं था। वे उसे अनुभव कर सकने की विद्या सिखाते थे। विषय को खूब स्पष्ट करते हुए उसका विघटन, विभाजन, विश्लेषण, अनावरण करना सिखाते थे। परंतु शास्ता की इस शिक्षा को यदि कोई अनुभूतियों के स्तर पर **जानाति, पस्सति** नहीं करता, **अजानन्तं, अपस्सन्तं** ही रह जाता, केवल बुद्धि-विलास ही करके रह जाता, तो शास्ता उसके लिए क्या करते? उसे कंधे पर उठा कर परले पार तो नहीं ही पहुँचा सकते थे। ऐसा किसी के लिए कोई नहीं कर सकता।

वाहिय

छहों इंद्रियां और उनके विषय अनित्य, दुःख और अनात्म हैं – इस तथ्य को सैद्धांतिक तौर पर केवल भगवान और उनके शिष्य ही नहीं बल्कि कुछ एक बाहर के लोग भी स्वीकारते थे। बाहर से आये हुए आयुष्मान वाहिय को भगवान ने इसी विषय में पूछा –

तं किं मञ्ञसि, बाहिय – वाहिय, तुम क्या मानते हो?

तो उसने तत्काल स्वीकार किया कि वह छः इंद्रियों और उनके विषयों को अनित्य, दुःख और अनात्म मानता है। इस पर भगवान ने कहा –

एवं पस्सं, बाहिय, सुतवा अरियसावको। (सं० नि० २.४.८९, वाहियसुत्त)

– अर्थात जो भगवान का आर्य श्रावक है, जो श्रुतवान है यानी भगवान के मुँह से जिसने अनित्य, दुःख, अनात्म की ये सच्चाइयां सुनी हैं, वह श्रुतवान ही बन कर नहीं रह गया। उसने ऐसा देखा भी है अर्थात स्वयं अनुभव करके जाना भी है

और परिणामतः नितांत विमुक्त हो गया है।

हम देखेंगे, शास्ता की शिक्षा में **जानतो, पस्सतो** अर्थात अनुभव द्वारा सच्चाई को जानने पर बहुत बल दिया गया है। सच्चाई को श्रद्धा के स्तर पर मान लेना, अथवा चिंतन-मनन द्वारा बुद्धि के स्तर पर मान लेना कल्याणप्रद है, पर केवल इतना ही कि इससे अनुभूति के स्तर पर जान लेने की पूर्व भूमिका तैयार होती है। परंतु वास्तविक विमुक्ति का जो लाभ होता है, वह **जानतो, पस्सतो** अर्थात विपश्यना द्वारा स्वानुभूति के स्तर पर जान लेने से ही होता है।

चक्खुं खो, भिक्खु, अनिच्चतो जानतो पस्सतो मिच्छादिट्ठि पहीयति (सं० नि० २.४.१६५, मिच्छादिट्ठिपहानसुत्त)

...पे०...।

– चक्षु (और रूप तथा इसी प्रकार अन्य इंद्रियां और उनके विषयों) की अनित्यता को अनुभूति द्वारा जानने वाले की मिथ्या दृष्टि का प्रहाण हो जाता है।

अनिच्चंयेव... अनिच्चन्ति पस्सति, सास्स होति सम्मादिट्ठि।

– अनित्य को अनित्य के तौर पर अनुभूति के स्तर पर जान लेता है, तब उसकी दृष्टि सम्यक हो जाती है।

सम्मा पस्सं निब्बिन्दति – सम्यक प्रकार से अनुभव कर लेने पर निर्वेद उत्पन्न होता है।

इसके परिणामस्वरूप तृष्णा क्षीण होती है। और

नन्दिक्खया रागक्खयो, रागक्खया नन्दिक्खयो।

– तृष्णा के क्षय से राग का क्षय होता है, राग के क्षय से तृष्णा का क्षय होता है।

नन्दिरागक्खया चित्तं सुविमुत्तन्ति वुच्चति।

(सं० नि० २.४.१५६, अज्झत्तनन्दिक्खयसुत्त)

– तृष्णा और राग का क्षय होना चित्त का सुविमुक्त होना कहलाता है।

तथागत ने बार-बार स्पष्ट किया कि सच्चाई को स्वयं अनुभूति द्वारा ही जानना चाहिए।

यदनिच्चं, तं दुक्खं – जो अनित्य है, वह दुःख है।

यं दुक्खं, तदनत्ता – जो दुःख है, वह अनात्म है।

यदनत्ता तं – जो अनात्म है वह,

नेतं मम – न मेरा है,

नेसोहमस्मि – न वह मैं हूं,

न मेसो अत्ताति – न वह मेरी आत्मा है।

इस सच्चाई को केवल श्रुत-ज्ञान अथवा चिंतनज्ञान द्वारा मान कर रह जाने वाला व्यक्ति विमुक्त अवस्था नहीं प्राप्त कर पाता। वह एक प्रकार की सांप्रदायिक दार्शनिक मान्यता में ही उलझ कर रह जाता है।

अतः शास्ता द्वारा बल इस बात पर दिया गया–

एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं – इसे यथाभूत, प्रज्ञापूर्वक देख लेना चाहिए।

(सं० नि० २.४.२०५, अज्झत्तानागतयदनिच्चसुत्त)

अर्थात विपश्यना द्वारा जान लेना चाहिए।

यह प्रज्ञापूर्वक देखना, जानना ही शास्ता द्वारा उपदिष्ट विशुद्धिमार्ग पर चलना है।

सब्बे धम्मा अनत्ताति – सारे धर्म (वस्तु, स्थितियां) अनात्म हैं,

यदा पञ्ञाय पस्सति – जब इसे प्रज्ञा से देखता है यानी अनुभूति से जानता है,

अथ निब्बिन्दति दुक्खे – तब दुःखों के प्रति निर्वेद अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

एस मग्गो विसुद्धिया – यही विशुद्धि अर्थात विमुक्ति का मार्ग है।

(ध० प० २७९, मग्गवग्ग)

शास्ता ने स्वानुभूति के लिए विशुद्धि का मार्ग प्रशस्त किया। परंतु कोई इसे केवल बुद्धिरंजन का विषय ही बना कर रह जाय, अनुभूति पर न उतारे, तो वे क्या करें? अपनी लाचारी प्रकट करते हुए उन्होंने यही कहा कि–

क्याहं करोमि? किन्ती करोमि – मैं क्या करूं?

शास्ता की आनुपूर्वी यानी क्रमिक शिक्षा

सेय्यथापि, भिक्खवे, महासमुद्दो अनुपुब्बनिन्नो अनुपुब्बपोणो अनुपुब्बपब्भारो,

– जैसे कि भिक्षुओ, महासमुद्र क्रमशः नीचा, ढलुवां और गहरा होता जाता है,

न आयतकेनेव पपातो – उसमें एकाएक कोई प्रपात नहीं आ जाता;

एवमेव खो, भिक्खवे – इसी प्रकार, भिक्षुओ,

इमस्मिं धम्मविनये अनुपुब्बसिक्खा, अनुपुब्बकिरिया – इस धर्मविनय में क्रमशः शिक्षा, क्रमशः कर्म और

अनुपुब्बपटिपदा – क्रमशः प्रतिपदा (सिखायी जाती है)।

न आयतकेनेव अञ्ञापटिवेधो। (उदा० ४५, उपोसथसुत्त)

– निर्वाण के प्रतिवेधन की शिक्षा एकाएक नहीं दी जाती। उसे सिखाने में कोई उतावलापन नहीं होता।

इसीलिए कहा –

नाहं, भिक्खवे, आदिकेनेव अञ्ञाराधनं वदामि।

(म० नि० २.१८३, कीटागिरिसुत्त)

– भिक्षुओ, मैं आरंभ से ही **अञ्ञा** अर्थात निर्वाण के परम ज्ञान की सुखद उपलब्धि नहीं बताता।

उनकी शिक्षा सदा आनुपूर्वी ही होती थी, दूसरे शब्दों में क्रमशः ही सिखायी जाती थी। आओ, शास्ता द्वारा सिखायी गयी इस आनुपूर्वी शिक्षा का एक उदाहरण देखें।

ब्रह्मायु ब्राह्मण

भगवान ने ब्रह्मायु ब्राह्मण को इस क्रम से धर्म-देशना दी।

दानकथं अर्थात दान कथा –

किसी भी गृहस्थ के लिए धर्मपथ पर पहला कदम उठाते हुए दान देने की शिक्षा ग्रहण करनी आवश्यक होती है। यदि गृहस्थ केवल परिग्रह करता रहे और अपनी संचित आय का समविभाग करना न जाने तो ऐसा

अहं-केंद्रित जीवन जीने लगता है जिससे कि धर्मपथ पर अगला कदम उठा ही नहीं पाता। इसलिए भगवान ने गृहस्थ को पहले दान देने की महत्ता सिखायी।

सीलकथं अर्थात शीलकथा –

तदुपरांत शील पालन करने की महत्ता सिखायी। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के अन्य लोगों के साथ सद्भावपूर्वक रहना आवश्यक है। अतः अपने शरीर और वाणी से वह ऐसा कोई काम नहीं करे जिससे अन्य प्राणियों की सुख-शांति भंग हो। उदाहरणार्थ, हत्या नहीं करे, चोरी नहीं करे, व्यभिचार नहीं करे, झूठ नहीं बोले।

सग्गकथं अर्थात स्वर्गकथा –

दान देने और शील पालन करने के कारण मरणोपरांत स्वर्ग की प्राप्ति होने की अर्थात सद्गति की कथा समझायी और तदुपरांत –

कामानं आदीनवं ओकारं सङ्किलेसं – काम-वासनाओं के दुष्परिणाम, उनमें समाए हुए दोष और संक्लेश को समझाया और

नेक्खम्मे आनिसंसं पकासेसि – इनके त्याग का माहात्म्य प्रकाशित किया।

यदा भगवा अञ्ञासि ब्रह्मायुं ब्राह्मणं –

क्रमशः इतनी शिक्षा देने के बाद जब भगवान ने देखा कि ब्रह्मायु ब्राह्मण ने इसे समझ लिया है और वह –

कल्लचित्तं मुदुचित्तं विनीवरणचित्तं उदग्गचित्तं पसन्नचित्तं

– योग्य-चित्त हो गया है, मृदु-चित्त हो गया है, अनावरित-चित्त हो गया है, आह्लादित चित्त हो गया है, प्रसन्न-चित्त हो गया है।

तब उसे आगे की शिक्षा के लिए योग्य देख कर –

अथ या बुद्धानं सामुक्कंसिका धम्मदेसना तं पकासेसि।

अर्थात –

– जो बुद्धों की उत्कर्ष-प्रदायिनी धर्म- देशना है, उसे प्रकाशित किया।

दुक्खं, समुदयं, निरोधं, मग्गं - दुःख, उसका कारण, उसका निवारण और निवारण का मार्ग अर्थात चारो आर्यसत्यों की धर्म-देशना का प्रकाशन किया।

(म० नि० २.३९५, ब्रह्मायुसुत्त)

इस प्रकार इस उत्कर्ष-प्रदायिनी धर्म-देशना के लिए पहले यथोचित भूमिका तैयार कर दी गयी। पहले **दानं ददन्तु सद्धाय** (पूर्वाह्न-सुत्त) की शिक्षा, फिर **सीलं रक्खन्तु सब्बदा** (पूर्वाह्न-सुत्त) की शिक्षा और तदनंतर इन-

पुञ्ञानि परलोकस्मिं, पतिट्ठा होन्ति पाणिनं। (सं० नि० १.१.४३, अन्नसुत्त)

- पुण्यों के परिणामस्वरूप प्राणी की परलोक में प्रतिष्ठा होने की शिक्षा।

और प्रतिष्ठा यही है कि-

अनिन्दितो सग्गमुपेति ठानं - अ-निंदित होकर वह स्वर्ग प्राप्त करता है।

(सं० नि० १.१.४१, आदित्तसुत्त)

श्रद्धापूर्वक पुण्य संपादन करने के कारण-

सग्गं च सो गच्छति सरीरं विहाय - शरीर छूटने पर वह स्वर्ग-गमन करता है।

(सं० नि० १.१.३६, सद्धासुत्त)

इतना सुन कर जब श्रोता का चित्त **कल्ल, मुदु** अर्थात प्रसन्न और मृदुल हो जाता है, तो ऐसे ही हो जाता है जैसे कि मैला कपड़ा धोकर साफ कर दिया गया हो। इस प्रकार साफ किया हुआ उजला कपड़ा जब रंगा जाता है तब उस पर बहुत चटकदार रंग चढ़ता है।

सेय्यथापि नाम सुद्धं वत्थं अपगतकाळकं सम्मदेव रजनं पटिग्गण्हेय्य।

(म० नि० २.३९५, ब्रह्मायुसुत्त)

- जैसे मैल उतारा हुआ स्वच्छ वस्त्र भली प्रकार रंग पकड़ता है, वैसे ही स्वच्छ हुआ चित्त चारो आर्यसत्यों की देशना देने पर-

भावनाभिरता होन्तु - साधना में लग जाता है। (पूर्वाह्न-सुत्त)

ऐसा होने पर-

ब्रह्मायुस्स ब्राह्मणस्स - ब्रह्मायु ब्राह्मण को,

तस्मिंएव आसने - उसी आसन पर, अर्थात भगवान की देशना सुनते-सुनते, दूसरे शब्दों में भीतर साधना करते- करते-

विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि - विरज, विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुए। अर्थात उसने चारो आर्यसत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर लिया।

भावना आरंभ करते हुए भीतर **उप्पादवयधम्मिनो** अर्थात उत्पाद-व्यय के स्वभाव का अनुभव हुआ और आगे बढ़ कर **उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति** उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने का अनुभव हुआ, तो स्वानुभूति के बल पर इस सत्य का साक्षात्कार हो गया कि भीतर के इस नाम-रूप के प्रपंच में-

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

- जो समुदय स्वभाव वाला है, वह सब निरोध स्वभाव वाला भी है। दूसरे शब्दों में उसने स्वयं नाम-रूपातीत निरोध-अवस्था का साक्षात्कार कर लिया। निर्वाण के इस प्रथम साक्षात्कार से वह स्रोतापन्न हो गया। अनार्य से आर्य हो गया।

ब्राह्मण ब्रह्मायु को यह अवस्था प्राप्त हुई तो वह-

दिट्ठधम्मो हो गया, अर्थात अब धर्म केवल श्रुत-ज्ञान का विषय नहीं रहा, बल्कि देख लिया गया यानी स्वयं अनुभव कर लिया गया।

पत्तधम्मो हो गया, अर्थात अब धर्म परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष हो गया, यानी अब यह किसी अन्य व्यक्ति के अनुभव की सच्चाई नहीं, बल्कि स्वयं अपने आपको प्राप्त हुई सच्चाई हो गयी।

विदितधम्मो हो गया, दूसरे शब्दों में धर्म केवल सिद्धांतों का विषय नहीं रहा, बल्कि स्वयं सुविदित हो गया।

परियोगाळ्हधम्मो हो गया, अर्थात धर्म की गंगा में स्वयं अपनी डुबकी लग गयी।

तिण्णविचिकिच्छो हो गया, अर्थात संदेह मुक्त हो गया।

जब तक ज्ञान 'श्रुत-ज्ञान' रहता है अथवा 'चिंतन-ज्ञान' रहता है, तब तक शक-संदेह के लिए गुंजाइश रहती है। परंतु जब ज्ञान अनुभूत हो जाता है तब शक-संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। 'प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या?' की स्थिति हो जाती है।

विगतकथङ्कथो हो गया, अर्थात अब कहने- कहलाने के लिए कुछ नहीं रह गया।

"मन मगन भयो, अब क्या बोले?"

अब तो "गूंगे की री शर्करा चाख-चाख मुस्काय"।

जब तक जानता नहीं, देखता नहीं, तभी तक बोलता है।

"बोले सो देखे नहीं, देखे, बोल न पाय" –

जब निर्वाणिक मुक्त-अवस्था को स्वयं जान गया, उसे स्वयं चख लिया तो अब क्या बोले?

जो अनिर्वचनीय अवस्था है, उसके बारे में कोई बोले भी क्या?

वेसारज्जप्पत्तो हो गया, अर्थात वैशारद्य प्राप्त हो गया, डूबते हुए को निर्वाण-रूपी सुरक्षा-द्वीप प्राप्त हो गया। अब भय काहे का? निर्भय हो गया।

अपरप्पच्चयो सत्थुसासने हो गया। शास्ता का ऐसा शासन मिला जिसे पाकर स्वाधीन हो गया। जब तक विषयों के अधीन था तब तक पराधीन था। पराधीन था तो दुःखी था। अब निरोध-अवस्था का साक्षात्कार कर, अपने भीतर जगे हुए धर्म के अधीन हो गया तो स्वाधीन हो गया। स्वाधीन हो गया तो सुखी हो गया, गद्गद हो गया और हर्ष के ये उद्गार निकल पड़े –

अभिक्कन्तं, भो गोतम, अभिक्कन्तं, भो गोतम! – अद्भुत है हे गौतम, अद्भुत है हे गौतम!

अद्भुत है शास्ता की यह शिक्षा।

कैसा आश्चर्यजनक परिणाम हुआ इस शिक्षा का, मानो कोई –

निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य – उल्टे को सीधा कर दे,

पटिच्छन्नं वा विवरेय्य – ढके हुए को उघाड़ दे,

मूळ्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य – भूले- भटके, मूढ़ व्यक्ति को खोया हुआ रास्ता बता दे,

अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य – अंधकार में तेल का प्रज्वलित प्रदीप रख दे,

चक्खुमन्तो रूपानि दक्खन्तीति – जिससे कि चक्षुमान व्यक्ति रूप को देख सकें, भौतिक पदार्थों को देख सकें।

एवमेवं भोता गोतमेन अनेकपरियायेन धम्मो पकासितो।

– ऐसे ही आप गौतम ने अनेक प्रकार से, अनेक पर्यायों से धर्म को प्रकाशित किया है।

ऐसे सत्य धर्म का रस स्वयं चख लेने के कारण ब्रह्मायु ब्राह्मण ने कहा –

एसाहं भवन्तं गोतमं सरणं गच्छामि धम्मञ्च भिक्खुसङ्घञ्च।

– यह मैं आप गौतम की शरण ग्रहण करता हूं, धर्म की भी और भिक्षुसंघ की भी।

उपासकं मं भवं गोतमो धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं।

(म० नि० २.३९५, ब्रह्मायुसुत्त)

– आप गौतम मुझे आज से प्राण रहने तक अपना शरणागत उपासक स्वीकार करें।

स्रोतापन्न गृहस्थ आदर्श गृही-धर्म निभाते हुए भगवान के आजीवन शरणागत उपासक बन जाते थे। परंतु उनमें से कुछ एक ऐसे भी थे जो प्रव्रजित हो, परम मुक्त अवस्था प्राप्त कर, कृतार्थ हो जाते थे।

शास्ता के प्रशिक्षण से प्रभावित होकर ऐसा ही कोई एक गृहस्थ साधक कह उठता था –

लभेय्याहं, भन्ते, भगवतो सन्तिके पब्बज्जं, लभेय्यं उपसम्पदं।

(म० नि० २.२९४, रट्ठपालसुत्त)

– भंते, मुझे भगवान के पास प्रव्रज्या मिले, उपसंपदा मिले।

वह भगवान से प्रव्रज्या और उपसंपदा प्राप्त कर साधना में लग जाता था।

एक दो बार की भटकन के बाद जब चित्त हत्थिसारिपुत्त को प्रव्रज्या और उपसंपदा मिली, तब भगवान से विपश्यना सीख कर –

अचिरूपसम्पन्नो खो पनायस्मा चित्तो हत्थिसारिपुत्तो

– आयुष्मान चित्त हत्थिसारिपुत्त ने उपसंपदा प्राप्त करके थोड़े दिनों बाद –

विपश्यना साधना करते हुए –

एको वूपकट्ठो अप्पमत्तो आतापी पहितत्तो विहरन्तो

– अकेले, एकांतवासी, अप्रमत्त, परिश्रमी, दृढ़संकल्प वाला हो, विहार करते हुए –

न चिरस्सेव - अल्पकाल में ही,

यस्सत्थाय कुलपुत्ता सम्मदेव अगारस्मा अनगारियं पब्बजन्ति,

– जिस उद्देश्य से कुलपुत्र भली प्रकार घर से बेघर हो प्रव्रजित होते हैं,

तदनुत्तरं ब्रह्मचरियपरियोसानं – उस अनुपम ब्रह्मचरण के परिणामस्वरूप,

दिट्ठेव धम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहासि।

– उस अभिज्ञान को यहीं स्वयं साक्षात्कार कर **उपसम्पन्न** विहार करने लगे।

वह अभिज्ञान जिससे सर्वोच्च अवस्था का ऐसा परम ज्ञान प्राप्त हुआ कि –

खीणा जाति – जन्म क्षीण हो गया,

वुसितं ब्रह्मचरियं – जिस उद्देश्य से ब्रह्माचरण पालन कर रहा था, वह पूरा हो गया,

कतं करणीयं – जो करना था सो कर लिया अर्थात कृत-कृत्य हुआ,

नापरं इत्थत्ताय – इस स्थिति के परे और कुछ नहीं है यानी न कुछ करणीय है और न ही इसके आगे भव-संसरण है।

परम विमुक्त निर्वाणिक अवस्था ही वह चरम अवस्था है जिसे प्राप्त कर कुछ और प्राप्त करने के लिए नहीं रह जाता। और इस अवस्था पर पहुँच कर –

अञ्ञतरो खो पनायस्मा चित्तो हत्थिसारिपुत्तो अरहतं अहोसि।

(दी० नि० १.४४३, पोट्ठपादसुत्त)

– आयुष्मान चित्त हत्थिसारिपुत्त अरहंतों में से एक हुए।

स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त कर लेने वाला ब्राह्मण ब्रह्मायु जैसा कोई एक अकेला गृहस्थ ही नहीं था और अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेने वाला चित्त हत्थिसारिपुत्त जैसा कोई एक अकेला प्रव्रजित ही नहीं था, बल्कि अनेकानेक भाग्यशाली व्यक्ति शास्ता के संपर्क में आये, शास्ता के शासन के संपर्क में आये और धर्म- रस चख कर कल्याणलाभी हुए। इसी कारण शास्ता अनुपम थे, शास्ता की धर्म-देशना अनुपम थी, जो **सन्दिट्ठिको** थी, अर्थात साक्षात अनुभव पर उतारी जाने वाली थी और इसीलिए **अकालिको** थी अर्थात अभी यहीं फल देने वाली थी।

तथागत के जीवनकाल में ही नहीं, उनके पहले और पीछे भी ऐसे अनेक शास्ता हुए जिनके उपदेशों में धर्म का ऊंचा आदर्श होते हुए भी वे स्वयं उसका पालन नहीं करते थे। वे केवल उपदेशक थे। इसलिए उनके शिष्य और श्रद्धालु भक्त उन उपदेशों का गुणगान ही करते रह गये। उनका पालन नहीं कर पाये। तथागत ने स्वयं धर्म धारण कर लोगों के सामने अपने उपदेशों का एक जीवंत आदर्श उपस्थित किया, औरों को उसे धारण करना सिखाया। उनकी यह अनूठी विशेषता उनके जीवनकाल में ही नहीं, प्रत्युत भावी सदियों तक बहुचर्चित रही। किसी परवर्ती कवि ने उनके बारे में ठीक ही कहा –

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
स्वीय कर्ममनुष्टानं, बुद्धदेवेन दर्शितम्॥

– औरों को दिये गये उपदेशों में पांडित्य प्रदर्शन करना सबके लिए सुकर है। इसलिए ऐसे उपदेशक अनेक होते हैं। परंतु बुद्धदेव ने तो इन्हें अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया।

इन जीवंत उपदेशों के कारण ही लोग भी उन्हें अपने जीवन में उतार पाये। इसी कारण उनके उपदेश मात्र सैद्धांतिक ही नहीं, प्रत्युत प्रयोगात्मक सिद्ध हुए।

इसी कारण अद्भुत थे शास्ता, अद्भुत था शास्ता का धर्म-शासन।

इतिपि सो भगवा सत्था।